आदिकालीन हिन्दी काव्य और स्त्री अस्मिता : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

(ADIKAALIN HINDI KAVYA AUR STREE ASMITA : EK VISHLESHNATMAK ADHHYAYAN)

(EARLY HINDI POETRY AND WOMEN IDENTITY : AN ANALYTICAL STUDY)

(पीएच.डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

शोध-निर्देशक

प्रो. पूनम कुमारी

शोधार्थी

कुमकुम पाण्डेय

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

2021

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated:20/01/2022

Certificate

This is to certify that the Ms. KUMKUM PANDEY, a bona-fide Research Scholar of Centre of Indian Languages, SLL&CS has fulfilled all the requirements as per the University Ordinance for the submission of Ph.D. thesis entitled "**ADIKAALIN HINDI KAVYA AUR STREE ASMITA : EK VISHLESHNATMAK ADHHYAYAN (EARLY HINDI POETRY AND WOMEN IDENTITY : AN ANALYTICAL STUDY)**

This may be placed before the examiners for evaluation for the award of the degree of Ph.D.

Prof. Punam kumari
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Dr. Punam Kumari
Associate Professor
Centre for Indian Languages
SLL&CS
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

Prof. Omprakash Singh
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

अध्यक्ष / Chairperson
भारतीय भाषा केन्द्र / CIL
भा. भा. एवं सं. अ. सं. / SLL & CS
ज. ने. वि. / JNU
नई दिल्ली / New Delhi-110067

Dated: 20/01/2022

Declaration

I hereby declare that the Ph.D. thesis entitled "**ADIKAALIN HINDI KAVYA AUR STREE ASMITA : EK VISHLESHNATMAK ADHHYAYAN (EARLY HINDI POETRY AND WOMEN IDENTITY : AN ANALYTICAL STUDY)** submitted by me is the original research work. It has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution to the best of my knowledge.

I further declare that no plagiarism has been committed in my work. If anything is found plagiarised in my Thesis, I will be solely responsible for the act.

Kumkum Pandey

KUMKUM PANDEY

Name of Students

विषय-सूची

भूमिका		I-V
प्रथम अध्याय :	आदिकालीन हिन्दी काव्य : स्त्री विमर्श के आलोक में	1-27
द्वितीय अध्याय :	स्त्री अस्मिता और पृथ्वीराज रासो के स्त्री पात्र	28-59
तृतीय अध्याय :	बीसलदेव रासो की राजमती और आधुनिक स्त्री-चेतना	60-85
चतुर्थ अध्याय :	सन्देश रासक और स्त्री स्वातन्त्र्य का प्रश्न	86-119
पंचम अध्याय :	स्त्री स्वातन्त्र्य और विद्यापति की राधा	120-151
षष्टम अध्याय :	नाथ, सिद्ध, जैन और बौद्ध काव्यों में स्त्री का चित्रण	152-181
उपसंहार		182-191
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची		192-204

भूमिका

स्त्री का व्यक्तित्व सृष्टि के आरंभ से ही कभी दबता, कभी उभरता दिखाई देता है। अपनी अस्मिता एवं अधिकार के लिए उसे निरंतर संघर्ष करना पड़ा है। मानव जीवन में नर-नारी का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। आज दोनों के आपसी सहयोग के कारण ही विकास सम्भव हुआ है। रचनाकार स्त्री हो या पुरुष, महत्त्व होती है उसकी सृजनशीलता का। नारी अस्मिता को लेकर आधुनिक हिन्दी साहित्य में बहुत कुछ लिखा जा रहा है।

स्त्री विमर्श रूढ़ हो चुकी मान्यताओं तथा परम्पराओं के प्रति असंतोष एवं उससे मुक्ति का स्वर है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' जैसी उक्तियों के माध्यम से पुरुष समाज द्वारा स्त्री को दैवीय गुणों और शक्तियों के ढ़ाँचों से ऐसा महिमामंडित किया गया कि देवीत्व के बोझ तले उसका मनुष्यत्व कब घुट-घुट कर दम तोड़ देता है, वह स्वयं भी नहीं जान पाती। इसी कारण वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष को चुनौती देकर स्वयं अपना परीक्षण चाहती है। वह अपना पूरा जीवन अन्या (बेटी, पत्नी, माँ) होकर नहीं रहना चाहती बल्कि अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व और अपनी पहचान चाहती है। उसका सम्पूर्ण प्रयास पितृसत्तात्मक मानसिकता के अस्वीकार व स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में स्वीकृति का है।

साहित्यिक रचना वैयक्तिक प्रक्रिया होते हुए समाज-सापेक्ष होती है, इसलिए साहित्यिक रचनाओं में वैयक्तिकता और सामाजिकता का समन्वय दृष्टिगत होता है। लेखक का व्यक्तित्व उसकी स्वैच्छिक और स्वतंत्र रचना न होकर किसी समाज के अंतर्गत, उसके प्रभावों से निर्मित और प्रभावित होता है। किसी भी युग के लेखक से तत्कालीन सामाजिक स्थितियों का अनुमान किया जा सकता है। हिन्दी के विभिन्न युगों के अनुशीलन द्वारा हम तत्कालीन समाज की नारी के प्रति दृष्टिकोण की खोज कर सकते हैं।

संस्कृत की नीतिपरक उक्तियों में (चाणक्य नीति, भर्तृहरि नीति आदि में) नारी निन्दा का स्वर मुखर रहा है। उसे जीवन में मिलने वाले कष्टों, उपेक्षाओं आदि की अनदेखी कर उसके अवगुणों को बढ़ा-चढ़ाकर वर्णित किया गया है। संस्कृत के लौकिक साहित्य में नारी के प्रति संतुलित दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। वहाँ पुरुष स्त्री की कामना करता है तथा स्त्री को स्वयंवर का अधिकार है। परिवार में पत्नी, पुत्री, माता, वधू के रूपों में वह सम्मान की पात्र है। यहाँ नारी के विरह में पुरुष की विरह-वेदना के मार्मिक वर्णन प्राप्त होते हैं। कालिदास के काव्य में नारी के उदात्त चित्र अंकित हुए हैं। संस्कृत काव्य में नारी, सौन्दर्य की प्रतीक, प्रेरणा की मूर्ति और आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु रही। कहीं-कहीं उसकी शारीरिक और मानसिक दुर्बलताओं की निन्दा भी की गई, लेकिन दृष्टिकोण में पूर्वाग्रह और असंतुलन नहीं है।

आगे चलकर यह संतुलन बिगड़ता गया। बौद्ध धर्म के निवृत्ति मार्ग के इन पथिकों ने पुरुष के मन में विरक्ति जगाने के लिए सारी दुर्बलताओं, दोषों का आरोपण स्त्री पर कर दिया। परवर्ती कवि जिनमें संत कवियों का नाम सबसे ऊपर है, उस परम्परा को यथावत् ग्रहण कर आगे बढ़ाते गए। बाद के रामभक्त कवि भी नारी को हीन, आठ अवगुणों से पूर्ण और ताड़ना के योग्य कहने से नहीं चूके। बौद्ध धर्म का साहित्य पालि भाषा में रचा गया, जिसमें दुःखमय संसार के त्याग का ही स्वर प्रधान रहा। संस्कृत साहित्य में जो नर नारी एक-दूसरे के पूरक थे, एक-दूसरे के सहचर थे, उनके संबंध अब बदल गए। यह संबंध अब दो व्यक्तियों का सहज-स्वाभाविक संबंध नहीं रहा, उसमें से साझेदारी का भाव समाप्त हो गया। पुरुष की संगिनी और मित्र होने के स्थान पर वह अनुगामिनी और भोग्या मात्र रह गई। व्यक्तित्व की गरिमा उसे नहीं मिली और सहयात्री होने के गौरव से उसे वंचित कर दिया गया। फिर भी कहीं-कहीं नारी की अस्मिता साहित्य में मुखर हुई है।

आदिकालीन काव्य में हमें काव्य के विविध रूप दिखाई पड़ते हैं। हिन्दी साहित्य का आरम्भिक काल संवत् 750 से 1375 तक माना जाता है। इसे वीरगाथा काल, चारणकाल, अपभ्रंश काल, आदिकाल आदि अनेक नाम इतिहासकारों ने दिए हैं, परन्तु आधुनिक युग में आदिकाल नाम से ही प्रचलित है। इस काल में भी युगीन स्थितियों के अनुसार कवियों का नारी संबंधी दृष्टिकोण अनुरागात्मक या घृणात्मक रहा है। आदिकाल में प्रमुख चार प्रकार का साहित्य पाया गया है – (1) सिद्ध साहित्य (2) नाथ साहित्य (3) रासो साहित्य (4) जैन साहित्य। इसमें नारी की ओर भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखा गया है।

आदिकाल में रासो ग्रन्थों का सृजन बड़ी मात्रा में हुआ है। इन रासो ग्रन्थों में आश्रयदाता राजाओं की कीर्ति, विजय, वीरता तथा विवाहों का चित्रण हुआ है। कुछ रासो ग्रन्थों में युद्ध वर्णन न होकर राजाओं के विवाह, विरहिणी के दुःख आदि के भी वर्णन मिलते हैं।

इस युग की स्त्रियों में वीरता के प्रति आकर्षण भी दिखाई देता है। एक स्त्री अपनी सखी से कहती है –

'भल्ला हुआ जो मारिआ, बहिणी म्हारा कंत।'

युद्ध में भागने वाले पति के प्रति उसके मन में कोई आदर नहीं है। इसलिए युद्ध में उसका मारा जाना ही अच्छा है, परन्तु औसतन देखा जाए तो नारी के प्रेयसी और पत्नी की अपेक्षा उसकी शृंगार सौरभयुक्त प्रतिमा ही इस युग में उभरी है।

निष्कर्ष रूप से रासो साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता आज इसलिए भी है क्योंकि इन रचनाओं से उस काल की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया जा सकता है।

अपने शोध-ग्रन्थ के विषय **'आदिकालीन हिन्दी काव्य और स्त्री अस्मिता : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन'** में, मैंने आदिकालीन काव्य में स्त्री अस्मिता को दिखाने का प्रयास किया है। साथ ही, यह भी दर्शाने की कोशिश की है कि स्त्री अस्मिता क्या है, क्या यह आदिकालीन रचनाओं के स्त्री पात्रों में भी दिखाई देती है? क्या उस समय स्त्री अपने अधिकारों के प्रति इतनी सजग थी? साथ ही, यह भी दिखाने की कोशिश की गई है कि क्या आधुनिक काल के स्त्री-चेतना से लैस कोई स्त्री चरित्र आदिकालीन काव्यों में भी प्राप्त होती हैं, या वह मात्र भोग्या और युद्ध के कारण के रूप में ही चित्रित हैं।

इस शोध-ग्रन्थ को कुल छः अध्यायों में विभक्त किया गया है। इसके **प्रथम अध्याय 'आदिकालीन हिन्दी काव्य : स्त्री विमर्श के आलोक में'** के अन्तर्गत स्त्री-विमर्श, उसकी परिभाषा, स्त्री-चेतना का अर्थ, क्या यह आधुनिक काल में भी दृष्टिगत होता है या पूर्ववर्ती कालों जैसे आदिकालीन काव्यों में भी दिखाई देता है? इस पर विस्तार से विचार किया गया है। साथ ही, क्या आदिकालीन स्त्री पात्र मात्र अलंकार रूप में थीं या उनमें स्वयं के प्रति चेतना भी थी, इस पर भी विचार किया गया है। किस प्रकार स्त्री-अस्मिता आदिकालीन स्त्री पात्रों में भी पाया जाता? इसका भी विश्लेषण किया गया है।

द्वितीय अध्याय 'स्त्री अस्मिता और पृथ्वीराज रासो के स्त्री पात्र' में मुख्य रूप से तीन बिंदुओं पर विस्तार से विश्लेषण किया गया है। सर्वप्रथम पृथ्वीराज रासो में चित्रित स्त्री पात्रों का अध्ययन तथा उस समय की उनकी परिस्थितियों का विस्तार से विवेचन किया गया है। अध्याय का दूसरा बिंदु उन स्त्री पात्रों के मनोविज्ञान तथा उनकी स्वतंत्रता पर आधारित है। इसके उपरान्त तीसरा बिंदु उनकी साहित्यिक दृष्टि पर आधारित है, जिसमें उन स्त्री पात्रों का चरित्र उभरता है।

तृतीय अध्याय 'बीसलदेव रासो की राजमती और आधुनिक स्त्री-चेतना' के अन्तर्गत बीसलदेव रासो को विभिन्न बिंदुओं के माध्यम से समझने का प्रयास किया गया है। जिसमें सर्वप्रथम बीसलदेव रासो पर संक्षिप्त रूप से विचार किया गया है। इसके उपरान्त उसमें चित्रित स्त्री पात्र राजमती का विश्लेषण आधुनिक स्त्री-चेतना के सन्दर्भ में किया गया है। साथ ही, बीसलदेव रासो का समग्र रूप में विश्लेषण किया गया है।

चतुर्थ अध्याय 'संदेश रासक और स्त्री स्वातन्त्र्य का प्रश्न' है। इस अध्याय में मुख्य रूप से संदेश रासक तथा उसमें चित्रित स्त्री पात्र का अध्ययन किया गया है। उस समय समाज में स्त्री की स्थिति क्या थी? इसका

अध्ययन संदेश रासक के माध्यम से किया गया है तथा स्त्री स्वातन्त्र्य और संदेश रासक की नायिका की तुलना के माध्यम से स्त्री-चेतना का विश्लेषण भी किया गया है।

पंचम अध्याय 'स्त्री स्वातन्त्र्य और विद्यापति की राधा' है। इस अध्याय को तीन प्रमुख बिंदुओं पर कसने का प्रयास किया गया है, जिसमें सर्वप्रथम विद्यापति की राधा तथा उसके विचारों को समझने का प्रयास किया गया है। इसके उपरान्त यह देखने का प्रयत्न किया गया है कि विद्यापति अपने काव्य में स्त्री पात्रों का जो चित्रण करते हैं, वह पात्र स्त्री स्वतंत्रता के समक्ष हैं या नहीं उनके काव्य में स्त्रियों को मात्र शृंगार के रूप में चित्रित किया गया है या फिर उनकी कोई स्वतंत्रता भी है। अतः इस बिंदु में यह समझने का प्रयास किया गया है कि जो पात्र विद्यापति के काव्य में चित्रित हुए हैं, उन पात्रों का महत्त्व क्या है और इस प्रकार आदिकाल की रचनाओं में स्त्रियों को क्या स्थान मिला है? इसके पश्चात् विद्यापति के रचना के उद्देश्य को परखने का प्रयास किया गया है कि किस उद्देश्य से उन्होंने रचनाएँ कीं क्या उनका उद्देश्य मात्र शृंगारिकता का वर्णन स्त्री पात्रों के माध्यम से करना था या फिर उनके स्त्री पात्रों को कुछ स्वतंत्रता भी थी और अन्त में विद्यापति के काव्य की साहित्यिक रचना की वर्तमान प्रासंगिकता को मापने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार उन्होंने अपनी रचनाओं में स्त्री पात्रों का चित्रण किया है?

षष्टम अध्याय 'नाथ, सिद्ध, जैन और बौद्ध काव्यों में स्त्री का चित्रण' है। इस अध्याय में यह देखने का प्रयास किया गया है कि नाथ तथा सिद्ध व अन्य धार्मिक रचनाओं में स्त्रियों का किस रूप में चित्रण हुआ है? जब हम इन रचनाओं को पढ़ते हैं तब हमें यह प्रतीत होता है कि इसमें स्त्री पात्रों को केवल माया, ठगनी तथा अन्य दुर्गुणों से परिपूर्ण स्त्री के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जबकि सत्य यह है कि उन रचनाओं के कवियों ने भी अपनी रचनाओं में स्त्री पात्रों को ज्ञान से युक्त तथा स्वतंत्र रूप में कई स्थानों पर प्रस्तुत किया है। अतः नाथ, सिद्ध और बौद्ध काव्यों में स्त्री के चरित्र-चित्रण के संबंध में इस अध्याय में गहनता से विचार किया गया है।

उपसंहार में सम्पूर्ण बातों को समेटते हुए स्त्री अस्मिता के प्रश्न तथा उसकी दृष्टि पर विचार किया गया है, साथ ही आदिकालीन काव्यों में चित्रित स्त्री पात्रों का स्त्री-विमर्श के सन्दर्भ में अध्ययन किया गया है। दोनों के संबंध पर मुक्कमल अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

अब मैं उन व्यक्तियों तथा संस्थानों को धन्यवाद कहना चाहूँगी, जिनका सहयोग इस शोधकार्य को पूर्ण करने में रहा है। सबसे पहले मैं अपने परिवार का धन्यवाद करना चाहूँगी, जिन्होंने मुझे यहाँ तक पहुँचने में सहयोग दिया तथा मुझे आगे बढ़ने का हौसला दिया। उसके लिए धन्यवाद या शुक्रिया जैसे शब्द छोटे हैं। इसके लिए मैं जीवन भर उनकी कृतज्ञ रहूँगी।

इससे पहले मुझे साहित्य की इतनी समझ नहीं थी। जो कुछ मैंने साहित्य के बारे में पढ़ा या समझा उसमें यहाँ के प्राध्यापकों का योगदान रहा है। जिनके कारण मैं हिन्दी साहित्य के बारे में अपनी समझ का विस्तार कर पायी हूँ। इनके सानिध्य में मुझे पढ़ने तथा सीखने का मौका मिला। इसलिए सबसे पहले इनको धन्यवाद देना आवश्यक समझती हूँ।

मैं अपने शोध-निर्देशक प्रो. पूनम कुमारी जी के प्रति बहुत-बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने विषय चुनाव से लेकर शोधकार्य के दौरान सुझाव ही नहीं दिए बल्कि विषय सामग्री भी उपलब्ध करायी। उनके द्वारा दिए गए सुझावों ने मेरे लिए इस शोधकार्य को आसान बना दिया। मैंम के आत्मीय सहयोग और सहजता की वजह से शोध-कार्य में हमेशा रोचकता और कुछ नया करते रहने की जिज्ञासा बनी रही। शोधकार्य के दौरान मैंम का स्नेह, आशीर्वाद और मार्गदर्शन बराबर मिलता रहा। अतः मैं विशेष रूप से अपने शोध-निर्देशक को धन्यवाद देना चाहूँगी। आशा करती हूँ, उनका मार्गदर्शन आगे भी मिलता रहेगा।

मैं 'भारतीय भाषा केन्द्र' के कर्मचारी रमेश भैया तथा अन्य लोगों की दिल से आभारी हूँ, जिन्होंने हमेशा हमारे द्वारा बार-बार परेशान किए जाने पर भी सदैव सहजता तथा धैर्य का परिचय दिया।

इस कार्य को संभव करने में मेरे अम्मा-पापा, बड़े भाइयों (राकेश, रंजीत, समरेन्द्र) तथा भाभी और भतीजियों (सोनल, शालू) का विशेष योगदान रहा है। इनके प्यार तथा स्नेह ने मुझे हमेशा हौसला दिया। मैं हमेशा इनकी आभारी रहूँगी।

मैं अपने मित्रों को इस अवसर पर कैसे भूल सकती हूँ। कहते हैं अच्छे दोस्तों का साथ हर मुश्किल को आसान बना देता है। यही काम मेरे लिए हरकेश, खुशबू दी, आयुषी, मन्जू, पूनम दी, धर्मेन्द्र, मनीषा जैसे दोस्तों ने किया। इनके साथ रहते हुए मुझे कभी भी अपने शोधकार्य को लेकर चिन्ता नहीं हुई। जो हर मुश्किल में मेरा साथ देने के लिए तैयार रहते हैं। सच में ऐसे दोस्तों का साथ हमेशा सुकून भरा होता है।

जिन्होंने भी मेरे इस शोधकार्य को पूर्ण करने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग दिया है, उन सभी दोस्तों, सहयोगियों और सहपाठियों का बहुत-बहुत आभार। मैं सभी सहयोगियों के प्रति तहे-दिल से धन्यवाद व्यक्त करती हूँ।

कुमकुम पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

प्रथम अध्याय

आदिकालीन हिन्दी काव्य : स्त्री विमर्श के आलोक में

अनादिकाल से ही सृष्टि की रचना एवं निर्माण में स्त्री की अद्वितीय भूमिका रही है। मानव जाति की सभ्यता एवं संस्कृति के विकास का मूल आधार स्त्री को ही माना जाता है। स्त्री और पुरुष दोनों सृष्टि के मूलभूत तत्त्व हैं। इनके परस्पर सहयोग और समन्वय से ही सृष्टि की रचना होती है। सृष्टि की रचना में पुरुष की तुलना में स्त्री का योगदान अधिक है। गर्भधारण से लेकर संतान का जन्म एवं उनके पालन-पोषण का कार्य स्त्री ही करती है। इसलिए नारी को सृष्टि का आधार कहा जाता है। समस्त विश्व के मूल उद्भव में नारी, शक्ति का प्रतीक है।

इतनी सारी विशेषताओं के बाद भी नारी को समाज में वह स्थान प्राप्त नहीं हुआ, जिसकी वह अधिकारिणी है। समाज के संचालन तथा व्यवस्था का निर्माण पुरुषों के हाथ में होने के कारण नारी की भूमिका दूसरे दर्जे की रही है। आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक नारी की प्रगति एवं अधोगति के मिथों का इतिहास हमें देखने को मिलता है। वैदिक संस्कृति और सभ्यता के निर्माण में नारी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। वैदिक काल में नारी के प्रति समान दृष्टिकोण अपनाया जाता था। युवक और युवतियों का प्रेम और मिलन उस समय में सामान्य बात थी। कन्याओं को अपने प्रेमियों के साथ घूमने की स्वतंत्रता थी।

भारतीय नारी के भविष्य की दिशा निश्चित करने के लिए उसकी वर्तमान दशा का विश्लेषण एवं अतीत का मूल्यांकन आवश्यक है। परम्परागत संस्कारों और रीति-रिवाजों का प्रभाव वर्तमान जीवन दृष्टि को प्रभावित करता है। इसीलिए अतीत के अध्ययन एवं विश्लेषण के माध्यम से ही हम भविष्य के निर्माण की दशा एवं दिशा निश्चित कर सकते हैं और परिस्थितियों को निर्देशित कर सकते हैं।

आशारानी व्होरा के अनुसार, "हमें अपनी प्रगति के उतार-चढ़ाव का अध्ययन करना होगा, अपनी सांस्कृतिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक व आर्थिक पृष्ठभूमि को समझना होगा और मूलाधार की इसी कसौटी पर नए और पुराने मूल्यों को परख, भविष्य की राह बनानी होगी।"(1) नारी की सृजनात्मक शक्ति के कारण ही समाज में गृह-संस्था का जन्म हुआ तथा परिवार एवं समाज का विकास हुआ।

हमारी संस्कृति, धर्म एवं सभ्यता के निर्माण में नारी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। नारी आदिम संस्कृति का उद्गम स्थल है। नारी को पुरुष की प्रेरणा माना जाता है और पुरुष को संघर्ष का प्रतीक। इस प्रेरणा एवं संघर्ष का समन्वय ही पूर्ण जीवन है। आशारानी व्होरा के अनुसार, "पुरुष को प्रकृति ने शरीर बल अधिक दिया है तो स्त्री को दृढ़ता और शरीर सौंदर्य अधिक। पुरुष संसार में जोश और साहस भरने के लिए बना है तो स्त्री धैर्य और चरित्र सिखाने के लिए, करुणा और प्रेम बरसाने के लिए। दोनों की भिन्न प्रकृति से ही परस्पर पूरकता और जीवन की पूर्णता संभव है।"(2)

यदि मानवीय गुणों की दृष्टि से विचार किया जाए तो पुरुष की तुलना में नारी अधिक मानवीय है। इसीलिए वह पुरुष का आदर्श भी है। प्रेमचंद के अनुसार, "पुरुष विकास क्रम में नारी से पीछे है। जिस दिन वह भी विकास तक पहुँचेगा वह स्त्री हो जाएगा। वात्सल्य, स्नेह, दया, कोमलता इन्हीं आधारों पर सृष्टि थमी हुई है और ये स्त्रियों के गुण हैं।"(3) नर-नारी एक दूसरे के पूरक होते हैं। स्त्री को अबला कहना उसका अपमान है। शक्ति का अभिप्राय यदि पाशविक शक्ति से है तो स्त्री सच में पुरुष की अपेक्षा कम शक्तिशाली है, परन्तु यदि शक्ति का अभिप्राय नैतिक शक्ति है तो स्त्री पुरुष से कहीं अधिक शक्तिशाली है।

स्त्री घर और समाज की बुनियाद होती है। स्त्री के बिना परिवार की कल्पना नहीं की जा सकती। पति और पत्नी को हमारे देश में दो शरीर एक प्राण कहा जाता है। वैदिक शब्द दम्पत्ति भी इसी की ओर संकेत करता है। भारतीय संस्कृति में नारी को आदर्श रूप में देखा गया है। वेदों में भी माता को सब देवताओं से उच्च स्थान पर प्रदान किया गया है।

वैदिक युग में नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया जाता था। पुत्र और पुत्री को एक समान माना जाता था। उस युग में प्रौढ़ विवाह की प्रथा का प्रचलन था। 17-18 वर्ष की आयु से पूर्व लड़कियों के विवाह नहीं होते थे। स्त्री और पुरुष दोनों को अपनी इच्छानुसार विवाह करने का अधिकार प्राप्त था। वैदिक समय में वैवाहिक जीवन प्रेमपरक और शांतिप्रिय था। उस युग में पुरुष, स्त्री के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करता था।

सती प्रथा का प्रचलन नहीं था। कुछ विद्वानों का मानना है कि इस काल में सती हो जाना श्रेयस्कर माना जाता था। विधवाओं को पुनर्विवाह करने की अनुमति थी। संतानहीन स्त्री को नियोग का अधिकार प्रदान था।

वैदिक युग में शिक्षा के लिए स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता थी। शिक्षा प्राप्त करने वाली स्त्रियाँ दो प्रकार की बताई गई हैं। पहली साध्योवधु होती थीं जो एक नियमित समय तक शिक्षा प्राप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती थीं। दूसरी ब्रह्मवादिनी जो आजीवन शिक्षा प्राप्त करती थीं। शिक्षा के साथ ही साथ स्त्री को यज्ञ के संपादन का भी अधिकार प्राप्त था। ऋग्वेद के अनेक सूत्र और मंत्र, ऋषिकाओं और ब्रह्मचारिणियों द्वारा भी लिखे गए हैं। रोमशां, विश्वम्भरा, घोषा आदि के नाम इसमें मिलते हैं। योग्यतानुसार स्त्री और पुरुष को समान शिक्षा दी जाती थी। स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार होता था। उस समय की सर्वोच्च शिक्षा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का भी अधिकार स्त्रियों को प्राप्त था। वेदों का अध्ययन तथा कविता आदि करने की भी पूर्ण स्वतंत्रता थी। इस काल में स्त्रियों को युद्ध कला की भी शिक्षा दी जाती थी। स्त्रियों को आध्यात्मिक ज्ञान और दर्शनशास्त्र की शिक्षा देना अनिवार्य माना जाता था। उस समय शिक्षित स्त्रियाँ ही धार्मिक कार्य करने योग्य मानी जाती थीं। गार्गी, मैत्रेयी,

अश्वला आदि उस युग की विदुषी स्त्रियाँ थीं। कतिपय शिक्षित स्त्रियाँ उस समय अध्ययन का कार्य भी करती थीं। अनेक उत्तरवर्ती संहिताओं और शतपथ ब्राह्मण में स्त्रियों को नृत्य एवं गान की शिक्षा दिए जाने का उल्लेख है।

हमारे देश की नारी युगों से तपस्या, त्याग, सेवा, स्नेह और भक्ति का प्रतीक रही है। अपने घर के भीतर रहकर उसकी लड़ाई खत्म नहीं हुई। आधुनिक समय में हमारे यहाँ के लोगों ने यह महसूस किया कि उन्हें नारी के प्रति अपने विचारों को बदल लेना चाहिए। वर्तमान समय में नारी को उसका खोया हुआ सम्मान मिल रहा है। आज नारी अपने लिए घर और बाहर एक साथ जगह बना रही है।

कई लेखिकाओं ने स्त्री के बारे में बहुत कुछ लिखा है। वह जागृत होते हुए भी कितनी दुःखी है। आज नारी के प्रति लोगों का दृष्टिकोण बदला है। नारी का शोषण तो वर्तमान समय में भी होता है लेकिन नारी के पढ़ने-लिखने और अपने अधिकारों के प्रति सजग रहने से शोषण में कुछ कमी आई है। इन लेखिकाओं ने स्त्री की समस्याओं को अपने लेखन का विषय बनाया है, वह सत्य है, उसमें कोई कल्पना नही है, इनमें स्वानुभूति दिखाई देती है। किसी भी क्षेत्र या समाज का सही ज्ञान हमें तब मिलता है, जब उस क्षेत्र का कोई व्यक्ति हो जो हमें समझाए। पुरुष महिलाओं की समस्या को जिस प्रकार प्रस्तुत करेगा, इससे बेहतर एक महिला लेखिका इस समस्या को अधिक गहराई और अपनत्व के साथ प्रस्तुत कर सकती है।

मुक्ति की कामना प्रत्येक व्यक्ति की आंतरिक कामना होती है। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए प्रत्येक व्यक्ति का स्वतंत्र होना आवश्यक है। स्वतंत्रता का अर्थ केवल आजादी नहीं बल्कि एक जीवन मूल्य है। स्वतंत्रता ही वह कारक है जो व्यक्ति के विकास को गति देकर उसे महान बनाता है। इसीलिए जब कभी व्यवस्था व्यक्ति का शोषण कर उसे गुलाम बनाने का प्रयत्न करती है, तब उस व्यवस्था से मुक्ति के लिए संघर्ष प्रारम्भ होता है। विश्व में नारी मुक्ति के संघर्ष का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना नारी के शोषण का इतिहास। समता, स्वातंत्र्य और भाईचारे के इस युग में नारी स्वतंत्रता का अपना विशेष महत्त्व है। राष्ट्र और मानव समाज की उन्नति एवं विकास के लिए नारी की मुक्ति आवश्यक है।

स्त्री की समस्या समग्र मानवीय समस्या होने के साथ ही अपनी एक अलग और विशिष्ट समस्या भी है। औरत आधी दुनिया है, आधा हिन्दुस्तान है, फिर उसे मानवीय गरिमा से वंचित क्यों रखा गया? यदि यह कहा जाए कि स्त्री और पुरुष दोनों ही मानव हैं, तब एक सवाल यह भी है कि क्या पुरुष पहले कभी एक बेहतर मानव की तरह उपस्थित था और उसने स्त्री तथा पुरुष का समान निर्माण किया? वैदिक काल के बाद नारी यातनाओं का सिलसिला जोरों पर था। सन् 1977 ई. में 'महिला दक्षता समिति', 'स्त्री शक्ति संगठन', 'स्त्री संघर्ष समिति' पुरोगामी स्त्री संगठन बने।

पुरुष रचनाकारों द्वारा स्त्री की समस्याओं का चित्रण होता रहा है, परन्तु वह कल्पना पर आधारित होता है। उनमें सहानुभूति प्रकट हो सकता है, परन्तु वही चित्रण यदि किसी स्त्री लेखिका द्वारा किया जाए तो वह सत्य के अधिक निकट दिखाई देता है। वह उनके अनुभव पर आधारित होगा, वह स्वयं उस परिस्थिति से परिचित होंगी। महादेवी वर्मा ने भी माना है कि, "पुरुष के द्वारा नारी का चरित्र अधिक आदर्श बन सकता है, परन्तु अधिक सत्य नहीं, विकृति के अधिक निकट पहुँच सकता है, परन्तु यथार्थ के अधिक समीप नहीं। पुरुष के लिए नारीत्व कल्पना है, परन्तु नारी के लिए अनुभव। अपने जीवन का जैसा सजीव चित्रण वह हमें दे सकेगी वैसा पुरुष बहुत साधना के उपरान्त भी शायद ही दे सके।"(4) कई प्रसिद्ध लेखिकाओं ने पुरुषों द्वारा नारी मन की गहराईयों तक पहुँच पाने को स्वाभाविक माना है। स्त्रियों के सहयोग के बिना मानव साहित्य सम्पूर्ण नहीं हो सकता। एक पुरुष किसी पुरुष की हृदयानुभूति को सफलतापूर्वक प्रकट कर सकता है, परन्तु जब वह स्त्रियों की अनुभूति को प्रकट करने जाता है, तब उसे विवश होकर कल्पना का सहारा लेना पड़ता है।

नवयुग की आवश्यकता है कि नारी को घुटन, आक्रोश छोड़कर अपनी नई भूमिका स्वीकार करनी चाहिए। लड़कियों में प्रारम्भ से ही स्वतंत्र चेतना के संस्कार देने चाहिए और अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना चाहिए। नारी, नारी होकर भी एक अच्छी गृहिणी, माँ, पत्नी आदि सब होते हुए भी एक विकसित मानवी हो इसी में दोनों का हित है। नासिरा शर्मा के अनुसार, "औरत अधिक ईमानदार, निष्ठावान, कर्मठ, धैर्यवान और बलिदान करने वाली एक ऐसी जीव है, जिसका मुकाबला दुनिया का दूसरा प्राणी नहीं कर सकता है।"(5)

नारी की मूल भूमि सृष्टि है और सृष्टि का आधार वासना है। बिना वासना के सृष्टि का विकास सम्भव नहीं है। सृष्टि के क्रमिक विकास के लिए पुरुष भी अनिवार्य है। इसी जैविक आवश्यकता के कारण दोनों एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं। राजशेखर का कथन है, "पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं। ज्ञान का संस्कार आत्मा से संबंध रखता है, उसमें स्त्री या पुरुष का भेद नहीं है। सुनते और देखते हैं कि अनेक राजकुमारियाँ, मंत्रियों की पुत्रियाँ, वेश्याएँ एवं नाट्य प्रयोक्ताओं की स्त्रियाँ शास्त्रों की प्रकाण्ड विदुषियाँ और कवियित्रियाँ हैं।"(6)

महिलाओं के प्रति गाँधी जी के भी स्पष्ट विचार थे कि महिला पुरुष की सहचर और सहधर्मिणी है। वह पुरुष के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने के योग्य है। गाँधी जी ने महिलाओं को समान अधिकार देने की बात की थी। उनका मानना था कि महिलाओं को भी पुरुष के समान सम्पत्ति में अधिकार मिले। गाँधी जी महिला को व्यापार की वस्तु नहीं मानते थे, सुंदरता भी व्यापार की वस्तु बने, यह उनकी कल्पना से बाहर था। उनका मानना था कि महिलाओं में वह शक्ति होती है, जिसके कारण वह दुनिया में अपना स्थान बना लेती है।

स्त्री की समस्या समग्र मानवीय समस्या होने के साथ ही अपनी एक अलग और विशिष्ट समस्या भी है। सृष्टि के रचनाकार को चाहे प्रजापति कहें या आदम या कुछ और किन्तु तथ्य यह भी है कि पुरुष वर्चस्व पहले स्थापित हुआ, बाद में वर्ग, जाति और परिवार आदि संस्थाओं का ढ़ाँचा बनता गया और स्त्रियाँ गौण रूप से उसमें फिट होती गईं। उन्हें एक वस्तु के रूप में घर की चारदिवारी में कैद कर दिया गया।

महिला मुक्ति आंदोलन आवश्यक क्यों? इन्हीं सब खोखले ढ़ाँचो को तोड़ने के लिए आज आंदोलन होने लगे हैं। स्त्री कौन सी स्वतंत्रता चाहती है? खानपान की, पहनावे की, यौन सम्बन्धों की अथवा विचारों की? इन तमाम मुद्दों को लेकर नारी मुक्ति के लिए संघर्ष करने वाली स्त्रियों के भी दो गुट बन गए। एक तथाकथित आधुनिकता तथा मुक्ति की बात करने वाली फैशन परस्त स्त्रियाँ, दूसरी वास्तव में विभिन्न स्तरों पर किए जा रहे स्त्रियों के शोषण के खिलाफ आवाज उठाने वाली स्त्रियाँ। ईश्वर ने स्त्री-पुरुष दो भिन्न-भिन्न प्राणियों की सृष्टि की है और स्पष्टतः दोनों की प्रकृति भी भिन्न है। अतः नारी मुक्ति के नाम पर स्त्री को पुरुष मान लेना असंभव है। जहाँ तक परिवार, समाज, शिक्षा तथा नौकरी का प्रश्न है, इसमें स्त्री को भी बराबर का हक मिलना चाहिए। स्त्री को पुरुष की भाँति ही पारिवारिक कार्यों में अपनी राय व्यक्त करने का अधिकार मिलना चाहिए। ऐसे ही पहनावा समय, समाज एवं सुविधा के अनुसार होना चाहिए। आज जरूरत इस बात की है कि नारी को भी समाज में एक सम्पूर्ण व्यक्ति के रूप में स्वीकारा जाए, जहाँ वह बेटी, बहन या माँ से अलग हटकर एक व्यक्ति के रूप में अपनी पहचान बनाए, न कि वह 'सेक्स सिंबल' बनकर रह जाए। दुर्भाग्य यह है कि जो परिवर्तन हो भी रहे हैं वह सही दिशा में हैं या नहीं, यह नहीं बताया जा सकता। स्त्री को समाज में एक वस्तु की तरह पेश किया जाता है।

भारत में सामूहिक महिला आंदोलन के प्रारम्भ को यदि हम देखें तो कह सकते हैं कि राजा राममोहन राय और नजीर अहमद जैसे व्यक्ति नारी के प्रति जड़ परंपराओं और अत्याचारों को बुनियाद से उखाड़ फेंकना चाहते थे। उसी तरह से 1920 में अखिल भारतीय महिला समिति जैसी संस्थाओं ने भी पीड़ित, शोषित, सती प्रथा, बाल विवाह के विरूद्ध अपनी आवाज बुलंद की थी। समाज में स्त्रियों की स्थिति सुधारने की दिशा में राजा राममोहन राय ने विधवाओं का अग्नि स्नान बंद करवाया और विद्यासागर ने विधवाओं को वैधव्य जीवन की यम यातनाओं से बचाया और कानून द्वारा पुनर्विवाह को अनुमति दिलाने का प्रयास किया।

सन् 1875 में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की थी। यह एक पुनरुत्थानवादी आंदोलन था, जिसने महिलाओं की दशा सुधारने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इन्होंने परदा प्रथा तथा तलाक

प्रथा का विरोध, किया साथ ही विवाह के लिए लड़कियों की न्युनतम आयु 16 वर्ष तथा लड़कों के लिए न्युनतम आयु 25 वर्ष निर्धारित की गई। बाल विवाह, बहु विवाह, दहेज प्रथा व अनमेल विवाह का इन्होंने विरोध किया।

समग्र रूप में कहा जा सकता है कि महिलाओं ने आजादी की लड़ाई के दौरान राष्ट्रीय संघर्ष से अपने को जोड़ा। जिससे स्वयं उनमें भी जागृति आई। स्वतंत्रता आंदोलन का भारतीय नारी पर बहुत ज्यादा प्रभाव पड़ा। भारत की स्त्रियों ने पहली बार अनुभव किया कि उनका जीवन बेकार या ध्येयविहिन नहीं है। नारी का कर्त्तव्य मात्र अपने स्वामी को प्रसन्न रखना ही नहीं, वरन् जीवन के अन्य उत्तरदायित्व को निभाना भी है। राष्ट्र की प्रगति के लिए भी त्याग करना है। ऐसी धारणा सहज ही पर्दे की प्रथा को समाप्त करने में सहायक होती है, साथ स्त्रियों में निर्भरता तथा आत्मविश्वास उत्पन्न करती है। इस विचारधारा से प्रभावित होकर कई महिलाओं ने राजनीति को आजीवन कार्यक्षेत्र बना लिया। अभी तक स्त्री आंदोलनों का नेतृत्व पुरुष ही करते थे, उसके बदले अब स्त्रियाँ अपने कार्य का स्वयं एवं स्वतंत्र संचालन करने लगीं।

नारी की जड़ता तब तक नहीं टूटती जब तक वह स्वयं विद्रोह नहीं करती। अपने घर पर हो रहे अन्याय को अन्याय मानकर न्याय की माँग नहीं करती। उसे पाँव तले वह जमीन चाहिए जो ठोस हो, समाज में वह अपने उन दृढ़ पाँवों पर खड़े होकर अपने अस्तित्व की रक्षा करे, उसे सुरक्षित स्थितियों का एहसास हो। सुरक्षित स्थितियों में ही आत्मविश्वास उत्पन्न होता है। औरत सिर ऊँचा करे तो उसमें आकाश को छू लेने का उत्साह होता है। उत्साह यदि हर श्वास में समाए तो जड़ता का अंधकार दूर हो सकता है।

जब तक आज की नारी निष्ठापूर्वक अपना कर्त्तव्य निभाती रहेगी, पुरुष से अधिक प्रशंसा की अपेक्षा नहीं करेगी, उसकी क्षमता, निपुणता पर कोई प्रश्न नहीं लग सकता। इस संसार में अनेक अनूठी संभावनाएँ हैं। अपरिमित सीमाएँ तथा अवसर हैं। संतुष्ट और प्रसन्नचित्त रहकर अगर नारी को दुगुनी मेहनत करनी पड़े तो आने वाले समय में भविष्य का भय स्वयं ही भयभीत होकर दबे पाँव लौट जाएगा।

कहते हैं कि साहित्य समाज का दर्पण होता है और शायद इसीलिए मृदुला गर्ग ने इस साहित्यिक दर्पण में नारी के बदलते स्वरूप को देखने की कोशिश की है। नारीवाद की नई परिभाषा गढ़ी है। इसे वह 'देसी नारीवाद' कहती हैं। वैसे आज आवश्यकता भी इसी की है कि पूर्णतः भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्त्री विमर्श किया जाए।

वर्तमान समय में 'स्त्री विमर्श' अथवा नारीवाद ने एक शास्त्र का रूप धारण कर लिया है। इस शास्त्र को जीवन के लगभग हर क्षेत्र में विश्लेषित करने का श्रेय अनामिका को जाता है। समाज व्यवस्था द्वारा निर्मित व

पोषित सभी प्राप्त धारणाओं से मुक्त होकर अनामिका स्त्री मुक्ति के क्रमिक विकास की व्याख्या करती हैं और पूर्ण मुक्ति की वकालत करती हैं। यह असंभव नहीं कि इस विकास के अभाव में परिवार व समाज की इकाईयाँ हैं और दोनों ही इस पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था का शिकार हैं। लेकिन विडम्बना यह है कि इसमें भी एक शिकार है, एक शिकारी। लेकिन दोष पुरुषों का नहीं उस पितृसत्तात्मक व्यवस्था का है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक पुरुषों को लगातार एक ही पाठ पढ़ाती है कि स्त्रियाँ उनसे हीनतर हैं, उनके भोग का साधन मात्र हैं।

हम यह कह सकते हैं कि स्त्री विमर्श पुरुष और स्त्री के बीच नकारात्मक भेदभाव की जगह स्त्री के प्रति सकारात्मक पक्षपात की बात करता है। वस्तुतः इस रूप में देखा जाए तो स्त्री-विमर्श अपने समय और समाज के जीवन की वास्तविकताओं को तथा संभावनाओं को तलाश करने वाली दृष्टि है।

स्त्री और पुरुष मानव समाज के दो आवश्यक अंग हैं। इन्हीं के पारस्परिक सहयोग से समाज आगे बढ़ता है। इन दोनों के सामाजिक महत्त्व को प्राचीन काल से ही स्वीकार किया जाता रहा है। इसी के फलस्वरूप प्राचीन काल से अब तक नारी को सदैव ही सम्मान प्रदान किया जाता है।

याज्ञवल्क्य ने प्राचीन परम्परा का पालन करते हुए स्त्रियों को अत्यधिक सम्मान प्रदान किया है। याज्ञवल्क्य ने 'स्त्री' एवं 'पुरुष' को 'क्षेत्र एवं बीज' के समान कहा है। याज्ञवल्क्य के मत में सोम देवता ने नारी को पवित्रता दी, गन्धर्व ने मधुर वाणी और अग्नि ने सब प्रकार से पवित्र होने की शक्ति दी। अतएव स्त्रियाँ सर्वत्र पवित्र होती हैं।

नारी को हिन्दू समाज व्यवस्था की आधारशिला, सभ्यता का स्त्रोत, संस्कृति निर्माता एवं वैवाहिक जीवन का आधार माना जाता रहा है। आश्रम व्यवस्था में गृहस्थ आश्रम को सभी धर्मशास्त्रियों ने श्रेष्ठ माना है।

वास्तव में भारतीय नारी की सामाजिक स्थिति में 'अधिकार' और 'कर्त्तव्य' इन दो पहलुओं के कारण सदैव उतार-चढ़ाव आता रहा। भारतीय नारी के आदिकालीन स्वरूप एवं स्थिति का वास्तविक अध्ययन तभी किया जा सकता है, जबकि धर्मशास्त्रों में नारी की सही स्थिति को जाना जाए। भारत एक धर्मपरायण देश रहा है, अतः धर्म से इतर कुछ भी सोचना कभी भी संभव नहीं माना गया। भारत में प्रत्येक बदलते हुए युग एवं परिस्थितियों के अनुसार धर्मग्रन्थों की रचना हुई है। जिसमें उस समय के समाज विशेष की परिस्थितियों का वर्णन है, जिसमें समाज का नारी प्रारम्भ से अभिन्न अंग रही है। प्रायः उसके सम्बन्ध में धर्मग्रंथों में विभिन्न प्रकार के मतों, विचारों, वर्जनाओं एवं निषेधों का उल्लेख मिलता है। इस संबंध में सुमन राजे कहती हैं, "प्राचीन युगों में राजसत्ता के बराबर कद पर यदि कोई खड़ा हो सका था, तो वह धर्म ही था। यह बात जितनी साहित्य के लिए सच है, उतनी ही अन्य कलाओं के लिए भी।"(7)

वैदिक काल के अध्ययन से पता चलता है कि उस काल में कन्याओं को वेदाध्ययन का अधिकार था और उन्हें विभिन्न प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। उस समय के साहित्य में बहुत सी विदुषी स्त्रियों के नाम मिलते हैं। परदा प्रथा का प्रचलन नहीं था। युवतियाँ मुक्त वातावरण में जीवन व्यतीत करती थीं। यौवनारम्भ के बाद ही विवाह करती थी। बहुधा अपना जीवन-साथी स्वयं चुनती थीं। परिवार में पत्नी का गौरवमय स्थान था और विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार था। पत्नी एवं माता के रूप में उनकी भूरी-भूरी प्रशंसा की जाती थी। कई स्थलों पर स्त्रियों को पुरुषों से श्रेष्ठ माना गया है। नारियों की भगवद्भक्ति, उदारता, सहृदयता, पतिव्रता धर्म और कर्मण्यता का विशेष रूप से उल्लेख है। अतः वैदिक समाज में स्त्रियों की असाधारण प्रतिष्ठा थी।

स्पष्ट है कि वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी थी। ऋग्वेद ने उस समय की योग्य स्त्रियों के लिए उच्चतम सामाजिक स्थिति प्रदान की थी। धर्म भी नारी का ही पक्षधर था। उस समय विधान ऐसा नहीं था, जो नारी को नियन्त्रित करे और उन्हे कठोर नियमों को मानने के लिए बाध्य करे। धार्मिक अधिकारों के अन्तर्गत सर्वप्रथम अधिकार था, कन्याओं को वेदादि, धर्मग्रंथों का पठन-पाठन कराना। प्रचीनकाल में स्त्रियों को सहधर्मिणी नाम से पुकारा जाता था। पत्नी की अनुपस्थिति में यज्ञ अथवा धार्मिक कार्य नहीं किए जा सकते थे। पति के साथ उसे प्रत्येक अधिकार प्राप्त थे। भ्राताहीन कन्या का पिता की सम्पत्ति पर अधिकार स्वीकार किया गया। स्त्री धन पर नारी का अधिकार होता था। इसके अलावा उन्हें सार्वजनिक अधिकार भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त थे।

उपनिषदों में भी स्त्रियों की स्थिति पुरुषों के समान उच्च थी। स्त्रियाँ यज्ञ में भाग लेती थीं। विवाह, गृहस्थ जीवन, सन्तानोत्पत्ति और बच्चों के पालन-पोषण आदि सभी में नारी का सहयोग अनिवार्य था। उपनिषद् काल में भी स्त्रियाँ वेदाध्ययन करती थीं और शास्त्रार्थों में भाग लेती थीं। राजा जनक के दरबार में हुए दर्शन-गोष्ठी में गार्गी ने याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ कर अपनी असाधारण योग्यता का परिचय दिया था।

रामायण को आदिकाव्य माना गया है। यह भारतीय समाज में नारी महानता का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। रामायण काल में कन्या जन्म को हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था, न ही घृणा, द्वेष या उपेक्षा के प्रमाण रामायण काल मे मिलते हैं। इसका प्रमाण है, धरती से प्राप्त सीता को राजा जनक की पत्नी ने स्नेह से पाला था। ऐसा माना जाता था कि कन्या की प्राप्ति लम्बी तपस्या का फल है। पति के गृहस्थ सम्बन्धी, सामाजिक एवं राजनैतिक कार्यों में नारी का पूर्ण सहयोग रहता था। इसके अलावा क्षत्रिय कन्याओं को युद्ध प्रवीणता एवं राजधर्म की शिक्षा भी दी जाती थी। कैकेयी के पति के साथ रण-स्थल गमन और क्षत-विक्षत स्वपति राजा दशरथ के प्राण बचाने के उसके कौशल से लक्षित होता है कि उस काल में स्त्रियों को रथ संचालन और प्राथमिक चिकित्सा भी सिखायी जाती थी।

इस काल में स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी, किन्तु कन्या को वर के चुनाव की पूर्ण स्वतंत्रता नहीं रहती थी। पिता द्वारा निर्धारित शर्तों को पूरा करने वाला व्यक्ति ही उसका पति हो सकता था। अर्न्तजातीय विवाह भी इस काल में प्रचलित थे, उदाहरण स्वरूप श्रवण की माता शुद्र थी और पिता वैश्य थे। इसके अलावा बहु विवाह भी प्रचलन में थे। किन्तु विधवा पुनर्विवाह नहीं होते थे।

माता के रूप में नारी को सर्वोच्च स्थान हमारी स्मृतियों में दिया गया है। उन्होंने नारी को देवी या लक्ष्मी का स्वरूप माना। नारी ब्रह्मा के आधे शरीर से उत्पन्न हुई, यह मान्यता उस समय प्रचलित थी। स्मृति काल में नारी की सम्पत्ति के अधिकार की अत्यन्त सदाशयता और उदारता की विशद् व्याख्या की गई है। फलतः हमारे देश के वर्तमान कानून में उनकी कुछ मान्यताओं को आधार बनाया गया है।

उपरोक्त सभी प्रमुख हिन्दू धर्मशास्त्रों में नारी के स्थान का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि धर्मशास्त्रों में नारी विषयक मत भिन्न-भिन्न रूप में प्रचलित रहे हैं तथा नारी को भिन्न रूपों में देखा जाता रहा है। धर्मशास्त्रों में स्त्रियों को आदिशक्ति के विविध रूपों में देखने की परम्परा हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद से लेकर समस्त वैदिक एवं लौकिक साहित्य में नारी का चित्रण उसके कर्मठ जीवन, त्याग, उत्सर्ग आदि गुणों को ध्यान में रखते हुए उसके गौरव के सर्वथा अनुरूप हुआ है। स्त्री को माता का आदर देना न केवल साहित्य की बात रही, अपितु समाज के दैनिक व्यवहारों और आचरणों में हम उसे इसी प्रकार पूजनीय पाते हैं।

समाज में नारी के सम्बन्ध में उसका यथार्थ स्वरूप दिखाने में वैदिक एवं धर्मशास्त्रीय साहित्य में केवल नारी की प्रशंसा ही नहीं मिलती अपितु नारी की तीव्र आलोचनाएँ भी पायी जाती हैं। आगे चलकर कुछ नियम पुरुषों को मिलने वाली विशेष सुविधा की दृष्टि से बनाए गए, परन्तु उनका मूल अभिप्राय केवल स्त्रियों की उपेक्षा करना ही नहीं था। ऐसा कदाचित विशेष परिस्थितियों एवं आवश्यकतानुसार हुआ होगा। ऐसी स्थिति में केवल पुरुषों की नियामिकता तथा स्वार्थपरता की बात करना उपयुक्त नहीं है। समाज में स्त्रियाँ सदैव आदर का पात्र रही हैं।

प्रत्येक समाज की विशिष्ट स्थितियाँ होती हैं जो सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक वास्तविकताओं से संयुक्त होती हैं। इसी कारण सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा की व्यापकता को स्वीकारते हुए, प्रस्तुत समाज की समग्र व्यवस्था को प्राथमिक मानना उचित होगा। विशेष रूप से भारत के सम्बन्ध में सामाजिक परिवर्तन को राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन से अलग नहीं माना जा सकता। वैचारिक एवं प्रभावोत्पादक दृष्टि से यह अपेक्षा उचित है। भारत के समाज सुधार आंदोलन समांतर एवं समान नेतृत्व में गतिशील रहे।

एक महिला को शिक्षित एवं विवेकजन्य बनाने के दूरगामी प्रभाव परिवार एवं सम्पूर्ण समाज पर पड़ेगा। हालाँकि महिला स्वतंत्रता से प्रेरित आंदोलन अन्याय, असमानता, आर्थिक शोषण एवं सामाजिक कुप्रथाओं को समाप्त कर न्याय, समानता एवं स्वतंत्रता की माँग करता है, उपर्युक्त समस्याएँ महिला वर्ग तक ही सीमित नहीं है वरन् सम्पूर्ण समाज से सम्बन्धित है।

'स्त्री विमर्श' यह संकल्पना पहले के लेखन के समय में न चर्चा में थी न अस्तित्व में। इतना निश्चित है कि इसे लेकर परोक्ष या अपरोक्ष रूप में साहित्य सृजन होता रहा है। सन् 1975 में अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष मनाया गया तब से स्त्री विमर्श एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा बन गया है। 'हंस' पत्रिका के माध्यम से स्त्री विमर्श की काफी चर्चा हुई है। आगे चलकर इस पर काफी बहस हुई और एक नई साहित्यिक संकल्पना के रूप में वह विकसित होती जा रही है।

'विमर्श' का तात्पर्य है विवेचन, विचार, परामर्श या जाँच आदि। 'स्त्री विमर्श' शब्द 'स्त्री' और 'विमर्श' इन दो शब्दों से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है नारी, उसके प्रश्न, उसके अस्तित्व से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर किया गया विचार। विचार विनिमय के माध्यम से स्त्री के जीवन संघर्ष एवं अस्तित्व पर मंथन करना, स्त्री विमर्श है। हिन्दी साहित्य प्रेमियों ने इसे अधुनातन रूप भले ही दिया हो लेकिन हिन्दी साहित्य के लिए यह मुद्दा नया नहीं है। किसी भी रूप में क्यों न हो, हिन्दी साहित्य में स्त्री तथा उससे जुड़े प्रश्न आदि को लेकर विमर्श होता रहा है। एक समय था जब हिन्दी ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में स्त्री विमर्श दो ध्रुवों पर टिका रहता था। उसमें स्त्री की छवि या तो सीता-सावित्री जैसी थी या फिर कुलटा जैसी। प्राचीन काल से लेकर आज तक के साहित्य, संस्कृति और समाज में नारी सम्बन्धी विविध धारणाएँ प्रचलित रही हैं। ये सारी धारणाएँ पुरुष मानसिकता और दृष्टिकोण से निर्मित हैं। कहीं देवी मानकर उसकी पूजा की गई है तो कहीं पाप की खान और भोग की वस्तु समझकर उसको प्रताड़ित किया गया है। वास्तव में नारी न देवी है और न दानवी है, वह केवल मानवी है। किसी कवियित्री ने कहा है-

नारी न देवी है न दासी है,
वह भी जीवन की अभिलाषी है।

स्त्री-विमर्श को समझने के लिए स्त्रीवादी दृष्टिकोण की आवश्यकता है। स्त्रियों की अपनी स्वतंत्र वैचारिक क्रांति, जीवन मूल्य, प्रतिमान, मर्यादाएँ, आदर्श और नियम होते हैं। स्त्री मुक्ति को उसी दृष्टि से व्याख्यायित करने की आवश्यकता है। परन्तु आज भी स्त्रियाँ पुरुष मानसिकता में दबी हुई अपने विचार तथा लेखन को अभिव्यक्त करती हुई दिखाई देती हैं। सामाजिक सन्दर्भ की तरह साहित्यिक सन्दर्भ में भी पुरुषों द्वारा

निर्मित प्रतिमान, मर्यादाएँ, आदर्श और नियम स्त्री मुक्ति को अपनी दृष्टि से व्याख्यायित करते रहे हैं। इस तरह जैसे जीवन और समाज में पुरुष ही कर्ता है। वह सब कुछ कहने और करने में स्वतंत्र है, वैसे ही साहित्य में भी कुछ भी लिखने और स्थापित करने के लिए वह मुक्त और सक्षम है। लेकिन स्त्री के लिए यह विपरीत है। समय के साथ स्त्री चिंतन का स्वरूप बदला। स्त्री-विमर्श भी अपने इकहरे, स्थूल या तत्कालीन सन्दर्भ-विशेष रूप को त्यागकर बहु-आयामी बनता गया। समकालीन स्त्री-विमर्श के दो महत्त्वपूर्ण आयाम उभरकर सामने आ रहे हैं। पहला आयाम है- स्त्री लेखन, और दूसरा आयाम है- स्त्रीवादी लेखन। समकालीन स्त्री विमर्श में इन दोनों मुद्दों की चर्चा जोरों पर है। स्त्री-लेखन की सरल व्याख्या यही बताई जा सकती है कि 'स्त्री द्वारा किया गया लेखन' स्त्री-लेखन है। स्त्रीवादी लेखन स्त्री-पुरुष दोनों का लिखा हो सकता है। यह ऐसा साहित्य है जो स्त्री हितों एवं स्त्रीवादी राजनीति का पक्षधर होता है। 'स्त्री साहित्य' की तुलना में 'स्त्रीवादी साहित्य' व्यापक परिदृश्य को समेटता है। 'वादी' शब्द के साथ 'प्रतिबद्धता' जुड़ी हुई होती है। अतः जो साहित्य स्त्री, स्त्री के अस्तित्व, स्त्री की अस्मिता, स्त्री के हित के लिए प्रतिबद्ध है, वह साहित्य स्त्रीवादी है। यह प्रतिबद्धता स्त्री या पुरुष किसी के भी लेखन में हो सकती है। अतः यह जरुरी नहीं कि स्त्रीवादी लेखन स्त्री ही करे।

समकालीन हिन्दी साहित्य में निहित स्त्री-विमर्श की चर्चा करते समय 'स्त्री लेखन' और 'स्त्रीवादी लेखन' समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। स्त्री लेखन स्त्री द्वारा किया गया लेखन होने से अनुभव की प्रामाणिकता से भरपूर होता है। प्रत्यक्ष रूप से भोगे हुए अनुभवों की अभिव्यक्ति स्त्री-साहित्य को यथार्थ की ठोस भूमि पर खड़ा करती है। स्त्रीवाद ने अनुभव एवं राजनीतिक पक्ष को महत्त्वपूर्ण माना तथा 'स्त्री साहित्य' ने सिर्फ अनुभव को महत्त्व दिया। अनुभव की प्रामाणिक अभिव्यक्ति को महत्त्वपूर्ण माना। अनुभव की प्रामाणिक अभिव्यक्ति तभी संभव है, जब अनुभवों की प्रत्यक्ष अनुभूति हो। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अनुभव की प्रामाणिकता के लिए स्त्री होना जरुरी है।

आज स्त्री-विमर्श ठीक वैसा नहीं है, जैसा दो शताब्दी पूर्व पश्चिम या फिर भारत में ही था बल्कि आज यह विमर्श भूमंडलीकरण से उपजी नई-नई समस्याओं को भी समेटता है। 'स्त्री-विमर्श' या स्त्रीवादी लेखन पर आज बहुत जोर-शोर से चर्चा हो रही है। 'स्त्रीवादी लेखन' का अर्थ केवल स्त्री के सम्बन्ध में लिखा गया लेखन, यहाँ तक ही सीमित नहीं है, बल्कि स्त्री की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक स्थितियों को ध्यान में रखकर उसकी भावनाओं का किया हुआ इजहार या प्रकटीकरण है। स्त्री के मन की गहराई में छिपी हुई भावना, उस पर हुआ अन्याय, अत्याचार और उसके खिलाफ उसने जो संघर्ष किया, वह भी स्त्रीवादी लेखन में ही शामिल है। यह मन की भावना चाहे पुरुष साहित्यकार द्वारा अभिव्यक्त हो या स्त्री लेखिका ने प्रकट की हो। यह पाश्चात्य समीक्षा का एक पहलू है, जिसे 'फेमिनिज्म' कहकर सम्बोधित किया जाता है।

स्त्री लेखन का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए हिन्दी की प्रतिष्ठित लेखिका प्रभा खेतान का कहना है कि, "स्त्री लेखन का एक और महत्त्वपूर्ण उद्देश्य स्त्री की विभिन्न भूमिकाओं के बारे में मानव समाज को परिचय देना है, जीवन के उन अन्धेरे कोनों पर भी प्रकाश डालना है, जिसकी पीड़ा स्त्रियों ने सदियों से झेली है।"(8) स्त्री की सबसे बड़ी त्रासदी यही है कि उसकी भूमिका हमेशा ही अपनी जरूरतों को ध्यान में रखकर घर में पुरुष या समाज व्यवस्था तय करती है। यहीं से आरम्भ होती है स्त्री विमर्श की कथा।

स्त्री-विमर्श एक ऐसा विमर्श है जो वर्ग, जाति, वंश, धर्म, प्रांत और देश आदि मर्यादित सीमाओं से परे है। जहाँ शोषण, उत्पीड़न, दमन व अन्याय है, चाहे जिस वर्ग, वंश, धर्म, प्रांत और देश की स्त्री पीड़ित हो वह उसका विरोध करता है। स्त्री विमर्श एक पश्चिमी अवधारणा है और विशेष रूप से विकसित देशों की सभ्यता से उत्पन्न हुआ है। विकासशील भारत अपनी परम्पराओं और अन्य परिस्थितियों के होते हुए भी उसे स्वीकार करता है। "आज नारीवाद हमारे यहाँ एक अपरिचित या त्याज्य दृष्टिकोण नहीं बल्कि एक सार्थक स्वीकृति समग्र दर्शन के रूप में स्वीकार्य हो चला है। नारीवाद कतई स्त्रियों को बृहत्तर समाज से अलग-थलग रखकर देखने और प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के खिलाफ उन्हें प्रोत्साहित करने का दर्शन नहीं है। यह तो एक समग्र दृष्टिकोण है, जो संवेदनशील नागरिकों में पहले शोषित और प्रवंचित स्त्रियों की स्थिति के प्रति सहानुभूति और मानवीय दृष्टिकोण विकसित करके, उन्हें अपने पूरे समाज के शोषित और प्रवंचित तबकों को समझने की क्षमता देता है। साथ ही उनके प्रति एक तरह की सदयता तथा कर्मठ दायित्व का बोध भी जगाता है।"(9) विश्वभर की नारी मुक्ति की कामना रखने वाला साहित्य स्त्री विमर्श माना गया है।

स्त्री विमर्श का साहित्य इस तथ्य को स्वीकार नहीं करता है कि पुरुषों द्वारा लिखा गया स्त्री विमर्श का साहित्य वास्तविक साहित्य है। उनका मानना है कि वह साहित्य स्वानुभूति का नहीं बल्कि सहानुभूति का साहित्य है। जो पुरुष सदियों से अन्यायी, अत्याचारी और शोषक रहा है, वह भला कैसे स्त्री लेखन में ईमानदार हो सकता है। दलित व स्त्री-विमर्श में अक्सर एक सवाल उठता है, स्वानुभूति तथा सहानुभूति का और इसी के आधार पर उसे अलग साहित्य की संज्ञा भी दी जाती है। पर प्रसिद्ध लेखिका नासिरा शर्मा स्त्री-पुरुष को खांचों में बाँटने की पक्षधर नहीं है। नासिरा स्वयं को स्त्रीवादी लेबल से बचाती हुई कहती हैं, "न तो मैं स्त्रीवादी हूँ और न स्त्रियों के लिए लिखती हूँ।"(10) क्योंकि वह मानती हैं कि, "स्त्री की समस्या केवल स्त्री की ही नहीं पूरे समाज व्यवस्था की समस्या है। इसलिए मैं मानव मात्र के लिए लिखती हूँ।"(11) नासिरा शर्मा यह मानकर चलती हैं कि स्त्री और पुरुष एक ही सिक्के के दो पहलू हैं जिनके सहयोग से ही बेहतर समाज व परिवार की संरचना सम्भव है। वैसे ही वह मानती हैं कि, "सिर्फ मैंने ही महिलाओं के प्रति नहीं लिखा। जो पुरुष लेखक हैं, उनकी रचना के केन्द्र में महिलाएँ रही हैं, कोई भी कहानी औरत के बिना अधूरी है।"(12)

नासिरा शर्मा के ठीक विपरीत मैत्रेयी पुष्पा मानती हैं कि, "पुरुष द्वारा रचा साहित्य अपनी सारी करूणा और सहानुभूति के बावजूद पुरुषवादी मानसिकता से ग्रस्त है। पुरुष चाहे समाज में हो या साहित्य में इतिहास की लम्बी प्रकिया में वह देह से देह तक ही भटकता रहा है।"(13) नासिरा शर्मा और मैत्रेयी पुष्पा का यह भिन्न-भिन्न स्वर दरअसल उन अंतर्विरोधों को उभारता है, जो अक्सर स्त्री विमर्श के संदर्भ में देखे व सुने जा सकते हैं। लेकिन ये अंतर्विरोध दरअसल स्त्री-विमर्श के संदर्भ में दो भिन्न दृष्टिकोण है, जो अपने-अपने ढ़ंग से इस विमर्श को विश्लेषित कर रहे हैं। स्त्री-विमर्श मात्र आत्मोद्गार या फिर पुरुष विरोधी विमर्श बनकर ही नहीं रहना चाहिए, बल्कि आज आवश्यकता एक ऐसे ठोस विचार सूत्र की है, जो भारत में इस स्त्रीवादी विमर्श को आगे बढ़ाकर किसी सैद्धांतिकी का निर्माण कर सके।

समकालीन स्त्री चिंतन का विषय है- स्त्री, उसका जीवन और उस जीवन की समस्याएँ। नारीवाद का सही उद्देश्य स्त्रियों के दमन के अनुभवों की अभिव्यक्ति है। समकालीन स्त्री लेखिकाओं का इस बात पर आग्रह है कि वह केवल लिखने के लिए नहीं लिख रही बल्कि पितृसत्ता के किले में बन्द स्त्री अस्मिता के प्रश्न को धर्म, समाज, संस्कृति, राजनीति, मीडिया आदि के व्यापक सन्दर्भ में विश्लेषित करने के लिए लिख रही हैं। स्त्री विमर्श का पहला और आखिरी सरोकार स्त्री की मुक्ति का स्वप्न, संकल्प और संघर्ष है। पुरुष से मुक्ति पाना स्त्री का लक्ष्य कभी नहीं रहा, स्त्री मुक्ति चाहती है परन्तु पुरुष से नहीं, पुरुष के आधिपत्य से। पुरुषहीन समाज की चाह वह नहीं रखती।

स्त्री और पुरुष, दो विरोधी नहीं बल्कि एक-दूसरे के पूरक तत्त्व हैं। नर-नारी की पुरकता और नारी की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए महादेवी वर्मा का कहना है कि, "पुरुष समाज का न्याय है, स्त्री दया, पुरुष प्रतिशोधमय क्रोध है, स्त्री क्षमा, पुरुष शुष्क कर्त्तव्य है, स्त्री सरस सहानुभूति और पुरुष बल है, स्त्री हृदय की प्रेरणा। ऐसा एक भी सामाजिक प्राणी नहीं मिलेगा जिसका जीवन माता, पत्नी, भगिनी, पुत्री आदि स्त्री से किसी न किसी रूप से प्रभावित न हुआ हो।"(14) इस प्रकार कहा जा सकता है कि सृष्टि के आदिकाल से ही नारी का गौरवमय स्थान रहा है और वह पुरुष की पूरक तथा समकक्ष सहयोगी ही रही है।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध को 'महिला जागरण या नारी जागरण' का युग तथा उत्तरार्द्ध को 'महिला प्रगति' का युग कहा गया है। पश्चिमी समाज में शताब्दियों की दासता, हीनता, प्रताड़ना व असंतोष से तड़पती नारी जाति ने जब मुक्ति के लिए जागृत होकर संघर्ष का बिगुल बजाया, जो बाद में अनवरत काल प्रवाह से गुजरते हुए छोटी-छोटी माँगों और संघर्षों के समन्वित प्रयास से बृहत्तर नारी जाति से संबद्ध आंदोलन के रूप में परिलक्षित हुआ, तो उसे ही नारी मुक्ति आंदोलन के नाम से पुकारा गया। विश्व में नारी मुक्ति के संघर्ष का इतिहास भी उतना ही पुराना है, जितना नारी के शोषण का इतिहास। नारीवादी आंदोलन का प्रारम्भ पश्चिम

से हुआ जिसका प्रभाव भारत पर पड़ा। नारी के अधिकारों के प्रति नवीन चेतना सर्वप्रथम पश्चिम में दिखाई देती है।

नारी मुक्ति आंदोलन व्यक्ति स्वातंत्र्य का पर्याय है, ऐसी स्वतंत्रता जिसमें जीवन के साधनों और साध्यों में पूर्णतया समानता और स्वतंत्रता हो। समान शैक्षिक, मानसिक वातावरण प्राप्त महिलाओं और पुरुषों में समान मैत्री भाव हो और महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए समान अवसर मिले। सबसे पहले अपने को पहचानकर अपनी पहचान बनानी है। अपनी पहचान बनाते समय नारी को यह ध्यान में रखना होगा कि यह पहचान पुरुष विरोधी न होकर पुरुष की सहयोगी बन पाना है। "केवल सुरक्षित ही नहीं स्वरक्षित, सिर्फ स्वतंत्र ही नहीं स्वायत्त रूप का स्त्री-पुरुष का सह जीवन दोनों की मुक्ति के लिए आवश्यक है। स्त्री मुक्ति का अर्थ पुरुष से मुक्ति नहीं और पुरुष मुक्ति का अर्थ स्त्री के प्रति द्वेष नहीं। द्वेष या प्रतिशोध पर आधारित आंदोलन से मुक्ति सम्भव नहीं है।"(15) इससे यह स्पष्ट है कि नारी का मुक्ति संघर्ष पुरुष विरोधी आंदोलन न होकर यह उस व्यवस्था विरोधी आंदोलन है जिसमें नारी का शोषण किया जाता रहा है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति समन्वयवादी संस्कृति रही है, जिसके कारण यहाँ व्यक्तिवाद की अपेक्षा परिवार का अधिक महत्त्व रहा है। परिवार में नारी सूत्रधारक होने के कारण वैदिक संस्कृति के प्रारम्भिक काल में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। लेकिन उत्तर वैदिक काल में नारी की स्थिति में गिरावट आती गयी और नारी का स्थान गौण होता गया और नारी मुक्ति का संघर्ष वहीं से आरम्भ हुआ। "भारतीय स्त्री मुक्ति संघर्ष कहाँ से शुरू होता है, इसके लिए कुछ निश्चित प्रमाण नहीं मिलते। इतना ही कहा जा सकता है कि उत्तर वैदिक काल से जैसे-जैसे बंधन क्रमशः कसते गए होंगे, उनसे मुक्ति की चाह भी वैसे-वैसे बलवती होती गयी होगी।"(16) लेकिन इस सन्दर्भ में एक बात निश्चित है कि हमारे यहाँ नारी मुक्ति का अर्थ, पश्चिम के अर्थ में पुरुषों की सत्ता से मुक्ति मात्र कभी नहीं रहा। भारतीय नारी का मुक्ति संघर्ष पाश्चात्य जगत के मुक्ति आंदोलन से भिन्न है। आशारानी व्होरा लिखती हैं, "हमारे यहाँ का 'नारी मुक्ति संघर्ष' पश्चिम के नारी मुक्ति आंदोलन से भिन्न है। वहाँ स्त्रियों ने लगभग एक सदी की लम्बी अवधि तक अपनी मुक्ति की लड़ाई पुरुषों से मुक्ति के रूप, उनके विरुद्ध खड़ी होकर अपमान झेलकर लड़ी। भारत में यह लड़ाई विदेशी दासता व प्राचीन रुढ़ियों के विरुद्ध एक साथ लड़ी गयी, जिसमें स्त्री-पुरुष प्रतिद्वन्द्वी नहीं सहयोगी थे। पुरुष इसमें पहले कर्ता व प्रेरक रहे।"(17) इसीलिए स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए सबसे पहले कोशिश पुरुषों ने ही की। यह कोशिश 19वीं सदी के आरम्भ में तब शुरू हुई जब बंगाल के राजा राममोहन राय ने सती प्रथा के खिलाफ आवाज उठायी और स्त्रियों को शिक्षा और सम्पत्ति में हक देने की सिफारिश की।

भारत में स्त्री आंदोलन की असली शुरूआत 19वीं सदी के अंतिम दशकों में हुई जब पंडिता रमाबाई, रमाबाई रानाडे, आनंदीबाई जोशी, फ्रानना सोराबजी जैसी औरतें अपने घरों में पुरुष प्रधान समाज द्वारा थोपे गए बन्धनों को तोड़कर ऊच्च शिक्षा के लिए विदेश गयीं और लौटकर उन्होंने भारत में स्त्रियों के आंदोलन को आगे बढ़ाया। पहली बार स्त्रियों ने स्त्रियों के स्वतंत्र संगठन स्थापित किए। 1886 में स्वर्णकुमारी देवी ने 'लेडिज एसोसिएशन' कायम किया। 1892 में पंडिता रमाबाई ने स्त्रियों के लिए पूना में 'शारदा सदन' खोला। उन्होंने स्त्रियों की शिक्षा और रोजगार के लिए प्रयत्न किए, बाल विवाह, विधवा विवाह पर व्याख्यान दिए, जिसके कारण उनको अनेक विरोध सहने पड़े। रमाबाई के समान ही ब्लावत्सकी, मार्गरेट नोबल, एनी बेसेंट और मीराबेन जैसी कुछ विदेशी महिलाओं द्वारा भारत में नारी जागरण का कार्य किया गया। जिसको भुलाया नहीं जा सकता। 1917 में मद्रास में श्रीमती मार्गरेट कजिन्स ने 'इंडियन वुमेन एसोसिएशन' की स्थापना की और महिलाओं को संगठित कर उनकी गतिविधियाँ संचालित की। ब्लावत्सकी ने 'थियोसोफिकल सोसायटी' की स्थापना की जिसका नेतृत्व सम्भालने वाली श्रीमती एनी बेसेंट एक आयरिश महिला थी। उन्होंने भारत को ही अपना घर बनाया और यहाँ रहकर नारी-जागृति और प्रगति का बीड़ा उठाया। 1917 में श्रीमती सरोजिनी नायडू के नेतृत्व में महिलाओं का एक शिष्ट मंडल 'सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया' को मिला और महिलाओं के लिए मताधिकार की माँग की। 1921 में मुंबई तथा मद्रास में महिलाओं को मताधिकार प्राप्त हुआ। "जिस मताधिकार को ब्रिटानी महिलाओं ने 1832 से 1918 तक 86 वर्ष की लम्बी कष्टकारी व अपमानजक स्थिति के संघर्ष के बाद प्राप्त किया। भारतीय स्त्रियों को उसी लक्ष्य को पाने में कुल पाँच साल लगे वह भी विदेशी हुकूमत के कारण क्योंकि उनको पुरुषों का विरोध नहीं सहयोग और समर्थन प्राप्त हुआ।"(18) 1926 में स्त्रियों ने चुनाव में भाग लिया और 1927 में अनेक महिलाएँ विधान सभा की सदस्य बनीं।

1927 में 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' नामक गैर राजनीतिक संगठन की स्थापना हुई। इस संगठन का मुख्य काम महिलाओं की सामाजिक और शैक्षणिक स्थिति को उन्नत करना था। 1929 में बाल-विवाह निषेध अधिनियम पारित हुआ, जो महिलाओं की सामाजिक स्थिति के सुधार में एक नया मोड़ था।

महात्मा गाँधी जी नारी मुक्ति संघर्ष में एक मील का पत्थर हैं। उन्होंने अपने आश्रम में तथा अपने सभी कार्यक्रमों में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही प्रत्येक काम में भाग लेने के लिए समान दर्जा प्रदान किया था। इसलिए स्त्रियों ने गाँधी जी के साथ स्वतंत्रता संग्राम में हिस्सा लिया। 1930 में गाँधी जी के आह्वान पर 'नमक सत्याग्रह' आंदोलन में हजारों स्त्रियों ने भाग लिया। बम्बई में सैकड़ों स्त्रियाँ नमक-कानून तोड़ने के लिए समुद्र तट पर पहुँच गईं, परिणामस्वरूप अनेक महिलाओं की गिरफ्तारी हुई। महात्मा गाँधी की गिरफ्तारी के बाद नमक-सत्याग्रह का नेतृत्व विभिन्न स्थानों पर श्रीमती सरोजिनी नायडू, कमला देवी चट्टोपाध्याय और रुक्मिनी

लक्ष्मीपति ने सम्भाल लिया। “1930 के इस आंदोलन में भाग लेने वाली प्रमुख स्त्रियों के नाम हैं- श्रीमती रुक्मिनी लक्ष्मीपति, पैरिन कैप्टन, विजयालक्ष्मी पंडित, कृष्णा नेहरू, कमला देवी, लीलावती मुंशी, दुर्गावाई, सरोजिनी नायडू, डॉ. मुतुलक्ष्मी रेड्डी, मणीबेन पटेल, हंसा मेहता आदि।”(19) 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में स्त्रियों ने हिस्सा लिया। पुरुष और स्त्रियों के सम्मिलित प्रयासों के परिणामस्वरूप ही 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ और 1950 में भारत का संविधान लागू हुआ। संविधान में यह व्यवस्था की गई कि बिना किसी भेदभाव के स्त्रियों को समान अवसर प्राप्त होने चाहिए। नारी मुक्ति आंदोलन के परिणामस्वरूप ही नारियों को यह सफलता मिली।

स्त्री-विमर्श के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो आदिकाल के साहित्य में स्त्री को मात्र युद्ध के कारण तथा शृंगार वर्णन के आलम्बन के रूप में देखा जाता रहा है। यदि हम आदिकाल की रचनाओं की चर्चा करें तो उसमें राजा के प्रशस्ति गान तथा युद्ध विजय आदि के वर्णन ज्यादा मिलते हैं, परन्तु यदि हम उसमें चित्रित स्त्री पात्रों को पढ़ते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि स्त्री पात्रों को युद्ध तथा भोग्या के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उस समय समाज में स्त्रियों की दशा अच्छी नहीं थी। परदा प्रथा, बहुविवाह आदि प्रचलित थे। नारी को घर से बाहर निकलने की अनुमति नहीं थी। इन सब बंधनों के बावजूद हम आदिकाल के कई स्त्री पात्रों में मुखरता तथा अपने निर्णय के प्रति प्रतिबद्ध होते देख सकते हैं। उस काल में स्त्री-विमर्श या नारीवादी आंदोलन जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। यह सारे विमर्श आधुनिकता की देन हैं। इस दृष्टि से आदिकालीन रचनाओं में चित्रित स्त्री पात्रों को मात्र भोग की वस्तु के रूप में देखना एकांगी दृष्टिकोण होगा। हमें आदिकालीन रचनाओं का पुनर्पाठ कर उसमें चित्रित स्त्रियों का अध्ययन करने से पता चलता है कि वे भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठाती थीं। आदिकालीन समाज में सामंती व्यवस्था विद्यमान थी, राजाओं की प्रशंसा, उनका गुणगान करना कवियों के लिए अनिवार्य लगता है, परन्तु ऐसी परिस्थिति में भी उन्होंने अपनी रचनाओं में स्त्री पात्रों का जो चित्रण किया है, वह सराहनीय है।

आदिकालीन साहित्य की विशेषता इस बात में है कि स्त्रियों में वीर, शृंगार आदि रसों का समन्वय है। उनमें यदि शृंगारिकता है तो वीरता भी है तथा अपने अस्तित्व के प्रति चेतना भी। इसका उदाहरण हम हेमचन्द्र के प्राकृत पैंगलम में उद्घृत दोहों में देख सकते हैं, जिसमें सामान्य नारी के शौर्यपरक मूल्य का पता चलता है।

“भल्ला हुआ जू मारिया, बहिणी म्हारा कंतु।
लज्जेज तुवयंसि अहु जइ भग्गा घर एंतु।”(20)

इसमें एक स्त्री अपनी सखी से कहती है कि भला हुआ जो मेरा पति मारा गया। सखि यदि वह भागा हुआ घर आता तो मैं लज्जित होती। इसी प्रकार एक और सखी अपनी दूसरी सखी से कहती है, यदि शत्रुओं की सेना भागी, तो इसलिए कि मेरा प्रिय वहाँ है और यदि हमारी सेना भागी तो इसलिए कि वह मर गया। इससे पता चलता है कि उस समय पुरुषों की विजय स्त्रियों के लिए गर्व की बात होती थी बनिस्त इसके कि वह रण छोड़कर घर भाग आए। उस समय समाज में ऐसी स्त्रियाँ भी थीं जिनमें वीरता के गुण विद्यमान थे।10वीं शताब्दी तक उच्च वर्ग के परिवारों में नारी की स्थिति बहुत कुछ ठीक थी- इन्दुलेखा, मारूला, मेरिका, विज्जिका, शीला, सुभद्रा, पद्मश्री, मदालता जैसी कवियित्रियाँ, लीलावती जैसी गणितज्ञा, अवन्ति सुन्दरि जैसी कला मर्मज्ञ इस युग में हुई थीं। उस युग की नारी में कर्तव्य पालन और योग की भावना विद्यमान थी तथा स्त्रियाँ शासन सम्बन्धी प्रबन्ध करने में भी कुशल थीं। चालूक्य वंशीय विजय भट्टारिका, लक्ष्मी देवी, अन्मा देवी, मलया देवी राज्य शासन और युद्ध कला में प्रवीण थीं। वर्तमान समय की तरह उस समय में स्त्रियाँ अधिक संख्या में शासन में नहीं थीं, परन्तु शुरूआत से ही स्त्रियों में शासन तथा वीरता का प्रमाण देखा जा सकता है।

स्त्री को हमेशा से समाज में दोयम दर्जे का स्थान दिया जाता रहा है। उसे एक पत्नी, पुत्री, माँ आदि के अलावा एक मनुष्य के रूप में कभी समानता नहीं मिली। उसे हमेशा समाज में कभी पिता तो कभी पति के नीचे दबकर रहने की सीख दी जाती रही। धीरे-धीरे स्त्रियों ने इसे ही अपनी नियति स्वीकार कर लिया, परन्तु हर समय के समाज में कुछ स्त्रियाँ ऐसी भी हुई हैं, जिन्होंने इसे स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। वो समाज के बन्धनों से स्वयं को मुक्त रखती थीं।

आदिकालीन समाज में सामंती वीरता और वंश कुलीनता का बोलबाला था। धर्म का कोई निश्चित रूप न होने के कारण सामाजिक जीवन अव्यवस्थित था। वैदिक काल के पश्चात् धीरे-धीरे सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन होता गया और साथ ही स्त्रियों की दशा में भी। उन पर समाज की अनेक कुप्रथाओं को आरोपित कर दिया गया। समाज में सती प्रथा, बहु पत्नी विवाह आदि कुप्रथाएँ प्रचलित थीं। ऐसे सामाजिक व्यवस्था में जहाँ स्त्रियों को बन्धनों में जकड़ दिया गया था, संयोगिता उस समय में प्रेम करती है तथा उसे प्राप्त करने के लिए किसी भी चुनौति का सामना करने के लिए तैयार रहती है। वह पृथ्वीराज से प्रेम करती है जो कि उसके पिता का शत्रु है। वह पृथ्वीराज के अलावा किसी अन्य पुरुष से विवाह करने से इन्कार कर देती है।

महादेवी वर्मा लिखती हैं, "स्त्री न घर का अलंकार मात्र बनकर जीवित रहना चाहती है, न देवता की मूर्ति बनकर प्राण प्रतिष्ठा चाहती है। कारण वह जान गई है कि एक का अर्थ अन्य की शोभा बढ़ाना तथा उपयोग न रहने पर फेंक दिया जाना है तथा दूसरे का अभिप्राय दूर से उस पुजापे को देखते रहना है जिसे उसे न देकर उसी के नाम पर लोग बाँट लेंगे। आज उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष को चुनौति देकर अपनी शक्ति

की परीक्षा देने का प्रण किया है और उसी में उत्तीर्ण होने को जीवन की चरम सफलता समझती है।"(21) पृथ्वीराज रासो की संयोगिता में ऐसा ही दृढ़ निश्चय दिखाई देता है। वह अपने प्रेम को प्राप्त करने के लिए उस सामंती व्यवस्था से लड़ जाती है, जिसमें स्त्रियों को मात्र अलंकार के रूप में समझा जाता है।

जिस समाज में स्त्री को बोलने का अधिकार नही था, जहाँ स्त्री को भोग का साधन मात्र माना जाता था ऐसे समाज में प्रेम करना और उसकी मुखर अभिव्यक्ति करना स्त्री चेतना का ही प्रमाण है। शशिव्रता पृथ्वीराज को वरण करने का निश्चय करती है। शशिव्रता कहती है –

"वर बरिहो संभारि सुपहु, वियौ पुरुष मुझ भ्रात।
मिलन कियौ हर मास प्रति, भखि वैसंनार घात।"(22)

मैं संभरी नरेश पृथ्वीराज को ही पति के रूप में वरण करूँगी, क्योंकि अन्य पुरुष मेरे लिए भाई तुल्य हैं। यदि शिव ने एक मास में पृथ्वीराज को मिला दिया तो ठीक है, नहीं तो अग्नि द्वारा भस्म होकर शरीर का त्याग कर दूँगी। एक स्त्री का इस तरह से प्रतिज्ञा करना उसकी अस्मिता का ही उद्बोधन हो सकता है। उसे किसी से डर नहीं ना ही वह किसी ऐसे बन्धन में बँधना चाहती है, जहाँ उसे सुकून न मिले। इसी प्रकार पद्मावती समय में पद्मावती एक शुक द्वारा पृथ्वीराज को एक पत्र भेजती है तथा अपने माता-पिता के विरूद्ध स्वयं के प्रेम के लिए अपना अपहरण करने की माँग करती है। इनका प्रेम मूक प्रेम नहीं है बल्कि ये स्त्रियाँ अपने प्रेम का प्रकटीकरण डंके की चोट पर बिना समाज से डरे हुए करती हैं।

आदिकाल में सामंती व्यवस्था होने के कारण बहुपत्नी प्रथा प्रचलित थी। एक राजा कई विवाह कर सकता था। ऐसे में रानियों में सपत्नी द्वेष होना स्वाभाविक है। पृथ्वीराज संयोगिता से विवाह कर उसे राजमहल लाता है तथा उससे अधिक प्रेम करता है। सामंती समाज व्यवस्था में स्त्री उपेक्षा का यह बहुत बड़ा कारण है। पृथ्वीराज द्वारा उपेक्षित किए जाने से दुःखी होकर इंच्छिनी गृह त्याग का निर्णय लेती है। जिस समाज में स्त्री को पुरुषों के अधीन रहना पड़ता हो, उन्हें राजमहल से बाहर जाने की आज्ञा ना हो ऐसे में गृह त्याग जैसा बड़ा निर्णय लेना स्त्री का पुरुष सत्ता के प्रति प्रतिरोध को ही दर्शाता है। इंच्छिनी का गृह त्याग का निर्णय उसकी स्त्री अस्मिता तथा मुखरता को प्रामाणित करता है।

रासो में स्त्री शिक्षिकाओं का भी उल्लेख किया गया है। उस समय स्त्रियों को भी शिक्षा का अधिकार था। इस क्रम में चन्द्रिका तथा मदना ब्राह्मणी का उल्लेख मिलता है, जो स्त्रियों को शिक्षा प्रदान करती थीं। चन्द्रिका एक शिक्षिका के साथ-साथ विधवा भी थी। उस समय सती प्रथा जैसी कुरीति समाज में व्याप्त थी, जहाँ स्त्री की इच्छा हो या ना हो उसे पति के साथ जबरन सती होना पड़ता था। चन्द्रिका के विधवा होने का उल्लेख तो रासो

में मिलता है, परन्तु उसके सती होने का नहीं। चन्द्रिका का पति की मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहना, सती प्रथा का विरोध ही है। चन्द्रिका की शैक्षिक योग्यता से उत्पन्न स्त्री चेतना ही इसके मूल में रही होगी, जिससे उसने सती होने से इन्कार कर दिया होगा। वह एक शिक्षित तथा विधवा स्त्री थी, वह किसी पर निर्भर नहीं थी। शिक्षा प्रदान कर अपना जीविकोपार्जन स्वयं करती थी। आर्थिक दृष्टि से भी उसकी स्थिति समाज में सही दिखाई देती है।

आधुनिक युग में जहाँ समाज में शिक्षा का स्तर बढ़ा है तथा स्त्रियों को भी शिक्षा और समानता देने की बात की जाती है, उसके लिए कानून भी बनाए गए हैं, फिर भी इस समाज में सामंती मानसिकता वाले लोग ज्यादा मिलते हैं। जहाँ प्रेम करने पर स्त्री की हत्या कर दी जाती है तो उस समय जब सामंती व्यवस्था का ही प्रचलन था, उसमें स्त्री की इच्छा का मूल्य क्या होगा? अपने पिता के शत्रु पृथ्वीराज से प्रेम करना तथा अपने निर्णय पर डटे रहना उस पितृसत्तात्मक व्यवस्था को कतई स्वीकार्य नहीं होगा। यह सामंती समाज स्त्रियों को एक बनी बनाई परिपाटी पर चलने का पक्षपाती रहा है। पितृसत्तात्मक समाज पुत्रियों को उनकी आदर्श छवि की दुहाई देकर, उसके निर्णय को बदलने एवं उसे तोड़ने का प्रयास करता रहा है, परन्तु संयोगिता अपने निर्णय पर अटल रहती है। वह कहती है –

"अथवा राजन राजग्रह, अथवा माय लुहानि।"(23)

मैं या तो पिता के राजगृह में भी कौमार्य व्रत धारण करके रहूँगी या उस रक्त रंजन करने वाले के घर में रहूँगी। संयोगिता द्वारा प्रण लेना तथा उस पर अमल करना तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में उसके विद्रोही छवि को व्यक्त करता है। शृंगारिकता से युक्त उस समाज में संयोगिता द्वारा ऐसा निर्णय लेना उसकी निडर तथा साहसिक छवि को इंगित करता है। रासो में चित्रित पद्मावती, शशिव्रता, इंच्छिनी, संयोगिता, चन्द्रिका आदि जैसे स्त्री चरित्र स्त्री की एक अलग छवि को प्रदर्शित करते हैं। इन स्त्री पात्रों के रूप में स्त्री चेतना का स्वरूप हमारे सामने आता है। पृथ्वीराज रासो के अतिरिक्त उस समय की अन्य रचनाओं में भी ऐसे स्त्री पात्रों का चित्रण देखा जा सकता है जो इस सामंती व्यवस्था से अलग जाकर अपना निर्भीक रूप प्रदर्शित करती हैं। यह रचनाकार की सफलता मानी जा सकती है।

आदिकालीन साहित्य में नारी का सौंदर्य चित्रण परिपाटी के अनुकूल हुआ है लेकिन जहाँ भी रचनाकार को मौका मिला है, उन्होंने गंभीरता और मौलिकता दिखाने का कोई अवसर नहीं छोड़ा है। इन रचनाकारों ने न केवल संयोग शृंगार का वर्णन किया है, वरन् विरह शृंगार का वर्णन भी बड़ी मार्मिकता तथा यथार्थपरकता के साथ किया है। इसी समय में अब्दुर्रहमान द्वारा रचित 'संदेश रासक' किसी भी राज्याश्रय में नहीं लिखा जाने

वाला पहला काव्य है। यह रचना एक प्रोषित पतिका नायिका की कथा है, जो प्रवास पर गए अपने पति के पास संदेश कहने के लिए एक पथिक को रोकती है तथा अपना संदेश सुनाती है। इसमें नायिका संदेश के जरिए अपने पति को उलाहना भी देती है तथा उसे कापालिक कहकर संबोधित करती है।

"तुय समरंत समाहि मोहु विसमट्ठियउ।
तहि खणि खुवइं कवालु न वामकरट्ठियउ।।
सिज्जासणउ न मिल्हउखण खट्टंगलय।
कावालिय कावालिणि तुय विरहेण किय।।"(24)

हे कापालिक! तुम्हारे विरह ने विरहिणी को कापालिनी बना दिया है। तुम्हारा स्मरण करती हुई मैं मोह की विषम समाधि में स्थित रहती हूँ। जिस प्रकार कापालिक के हाथ में हमेशा कपाल रहता है, उसी प्रकार मेरे बाएँ कर पर स्थित मेरा सिर क्षण भर के लिए भी नहीं हटता। कापालिक क्षणभर के लिए भी सिद्धासन नहीं छोड़ता, उसी प्रकार मैं भी शय्यासन और खाट का पावा कभी नहीं त्यागती अर्थात् हमेशा खाट पर एक किनारे पड़ी रहती हूँ।

उस समय जब स्त्रियों को बोलने की स्वतंत्रता नहीं दी जाती थी, उन्हें पुरुषों के अधीन समझा जाता था। ऐसे समय तथा समाज में एक पुरुष को उलाहना रूपी संदेश देना तथा उसे कापालिक कहना एक स्त्री की मुखरता को प्रदर्शित करता है। वह किसी से डरती नहीं बल्कि अपनी बात निडर होकर कहती है। वह यहीं नहीं रुकती आगे कहती है –

"पिय विरह विओए संगम सोए दिवसर यणि झूरंतमणे,
णिरु अंगु सुसंतह वाह फुसंतह अप्पह णिद्दय किं पिभणे।
तुय सुयण निवेसिय भाइण पेसिय मोह वसण बोलंत खणे,
मह सामिय वक्खरप हरि गउ तक्खरु जाऊँ सरणि कसु पहिय।"(25)

हे निर्दय! प्रिय विरहजन्य वियोग से संगम के सोच से दिन-रात चिंतित रहने वाले मन से अपने बारे में मैं कुछ क्यों न कहूँ? (परंतु चिंता है) उस प्रिय के 'रूप' नामक वस्तु की जिसे प्रिय ने अपने सुंदर शरीर से लगाया, प्रीतिपूर्वक निहारा। वह 'रूप' वस्तु विरह रूपी चोर उस समय चुरा ले गया, जब मैं मोहबस समय बिता रही थी।

वह समय के बन्धनों से डरती नहीं है न ही घर की चारदीवारी में कैद बैठी आँसू बहाती रहती है बल्कि वह घर से बाहर निकलती है तथा अपनी पीड़ा को संदेश रूप में अपने प्रिय तक पहुँचाने के लिए पथिक से कहती है।

उच्चवर्ग में स्त्रियों का सम्मान भी था तथा उन्हें कुछ अधिकार भी प्राप्त थे। यद्यपि आज वे धुँधले दिखाई पड़ते हैं। पर्दे का अभी चलन न था। रानियाँ राजदरबारों में आती थीं। शस्त्र धारण करके घोड़ों पर सवार होकर सेना का संचालन करती थीं यद्यपि तत्कालीन राजपूत घरानों का इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि अन्तःपुर में भी नारी की सत्ता थी। जौहर उसके शौर्य, ओज और गरिमा को प्रकट करता है, पर इन्हें नारी के अपने व्यक्तिगत गुण कहा जा सकता है।

उसी समय अन्य रासो के चित्रित स्त्री पात्रों की तरह बिसलदेव रासो की राजमती भी मुखर स्त्री के रूप में सामने आती है। स्वयं राजा द्वारा आत्मप्रशंसा पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उसकी पत्नी राजमती कहती है कि तुम ऐसे राजा हो जो खान से नमक निकालते हो, जबकि उड़ीसा का राजा खान से सोना-चाँदी, हीरे-जवाहरात निकालता है-

"गरबि न बोलो हो सांभर्यो राव। तो सरीखा घणा ओर भुवाल।।
एक उड़ीसा को धणी। बचन हमारइ तू मानी जु मानि।।
ज्यूँ थारइ साँभर उग्गहर। राजा उणी घरि उग्गहइ हीराखान।।"(26)

उस समय राजमती को एक मुखर स्त्री के रूप में देखा जा सकता है, जिसने राजा के अहंकार को तोड़ने के लिए बिना उससे डरे खरी-खरी बातें कही। डॉ. नामवर सिंह ने इस संदर्भ में कहा है कि, "पूरे मध्ययुग में राजमती की तरह जुबान की इतनी तेज और खरी कोई नायिका नहीं है।"(27)

आदिकालीन सामंती समाज में अव्यवस्था का माहौल था। सभी राजा आपस में ही एक-दूसरे से लड़ने में अपनी शक्ति क्षीण कर रहे थे, जिससे बाहरी आक्रमणकारियों को अपनी सत्ता स्थापित करने का मौका मिल रहा था। उस समय सिद्ध, जैन आदि धर्मों का भी प्रचार-प्रसार हो रहा था। इसमें स्त्रियों को भी शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार था तथा भिक्षुणी बनने की अनुमति थी। इससे स्त्रियों में भी चेतना का प्रसार हुआ तथा वे सामाजिक कुप्रथाओं के प्रति अपना विरोध करती दिखाई पड़ती हैं। उस समय स्त्री विमर्श जैसी कोई विचारधारा नहीं थी, सामंती मानसिकता में जकड़े पुरुषवादी समाज में, पुरुष सत्ता की बात मानने से इन्कार करना, उनका विरोध करना स्वयं में स्त्री चेतना का प्रमाण माना जा सकता है।

किसी भी समाज में राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक कारणों से स्त्री की जो दशा होती है, प्रायः उसी का चित्रण उस समय के कवियों की रचनाओं में भी दिखाई देता है। इन सारी परिस्थितियों का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता है, जिस कारण से कवि कभी विवश होकर तो कभी स्वयं की इच्छानुसार अपनी रचनाओं को मोड़ देता है। कई बार परिस्थितियाँ कवि को स्त्री का केवल शृंगार पक्ष दिखाने के लिए मजबूर भी कर देती हैं, परन्तु रचनाकार को जहाँ भी मौका मिलता है, वह स्त्री का स्वतंत्र रूप भी हमारे सामने प्रस्तुत करता है। उस समय के कवि राज्याश्रित थे। उनका जीविकोपार्जन राजा की दया पर चलता था इसलिए उनके या उनकी व्यवस्था के विरोध में लिखना कवि के लिए जीवन-मृत्यु का प्रश्न बन जाता है। फिर भी कवि अपनी बात पाठक के सामने रखने से नहीं हिचकिचाता।

ऐसे सामंती समाज में जहाँ स्त्री को भोग-विलास तथा मनोरंजन की वस्तु समझा जाता था, कण्हपा ने स्वतंत्र नारी का चित्रण किया है, जो किसी पर निर्भर नहीं। वह अपना जीवन अपनी इच्छानुसार चलाती है तथा उसके लिए अर्थोपार्जन भी स्वयं करती है। कण्हपा जब डोम्बी नारी का चित्रण करते हैं तो उसमें लोक-जीवन की डोम्बी नारी के जीवन का यथार्थ चित्रांकन दिखाई पड़ता है। डोम्बी नारी नाव में सवार होकर नदी पार कर नगर के बाहर बाजार में अपना सामान बेचने जाती है। वह तंत्री मालाएँ तथा हाथ की बुनी हुई टोकरियाँ बेचती है। इसी प्रकार राजघरानों में भी स्त्रियों के दासी रूप में काम करने का उल्लेख मिलता है।

उस समय व्यवसाय के अतिरिक्त सामान्य जन कृषि पर निर्भर रहते थे। कृषक का जीवन सुखद था और वह खेती करने में आनन्द का अनुभव करता था। कृषि कार्य में पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी कार्य करती थीं, वह जिस प्रकार के आनन्द और सुख का अनुभव करते थे, उस सुख को प्राप्त करने के लिए राजमहलों की रानियाँ भी तरसती थीं –

"आंजणी काइं नि सिरजीय करतार।
षेत्र कमावती स्यउं भरतार।।
पहिरिण आछी लोवडी।
तुंग तुरीय जिम भीडती गात्र।
साईय खेती सामुही।
हंसि हंसि बूझती प्रीतणी बात।।"(28)

राजमती कहती है कि हे विधाता! तुमने मुझे जाटनी क्यों नहीं बनाया? जाटनी होकर मैं अपने पति के साथ खेत में काम करती। अच्छे ऊनी वस्त्र पहनती, ऊँचे घोड़े के समान मेरा शरीर होता, जिसे मैं अपने पति के सामने रखती और अपने पति से हंस-हंस कर बातें करती।

यद्यपि यह कथन राजमती की वियोगावस्था का है, इसके कथन से एक बात स्पष्ट होती है कि राजमहलों में रहने वाली रानियाँ भी अपने पति के साथ खेत में काम करना प्रिय से अलग रहने की अपेक्षाकृत अधिक अच्छा समझती हैं।

प्राचीन काल से ही स्त्रियों ने अपने लेखन में स्त्री-मुक्ती का संकेत दिया था। साहित्य जीवन की जिस पूर्णता की अभिव्यक्ति करता है, वह बिना नारी की सहभागिता के अपूर्ण होगा। नारी जागरण की दृष्टि से तो साहित्य उसके स्वत्व और व्यथा का समर्थ व्याख्याकार ही रहा है। कवियों के कंठ से भारत की जय ही नहीं गूँजी, नारी की जय भी ध्वनित हुई है। कथाकारों की आँखों में भारतमाता की परवशता पर ही आँसू नहीं आए हैं, विवश नारी के बन्धनों पर भी आए हैं। यह स्पष्ट बात है कि अनादिकाल से ही नारी साहित्य का केन्द्र रही है। अतः साहित्य और नारी का सम्बन्ध शाश्वत है।

स्त्री चेतना से तात्पर्य स्त्रियों में इतनी जागरूकता से है कि वे स्वयं के हित-अहित के विषय में समझ सके। परम्पराओं व मूल्यों में सीमा क्या है, सुलझा सकें। अस्मिता का अभिप्राय स्वयं की पहचान, वजूद एवं महत्त्व से है। स्त्रियाँ भी पुरूषों की तरह प्राणी हैं, उन्हें भी जीने का सही ढ़ंग से अधिकार है। आदिकालीन हिन्दी काव्यों के स्त्री पात्रों में भी अपनी अस्मिता को लेकर जागरूकता है, वरना संयोगिता अपने पिता के शत्रु पृथ्वीराज से प्रेम नहीं करती और ना ही उनके विरूद्ध जाकर पृथ्वीराज का वरण करती। सन्देश रासक की नायिका विरह में व्याकुल होकर अपने पति को उलाहना भरे सन्देश नहीं देती। इस प्रकार के बहुत सारे स्त्री पात्र उस सामंती समाज में मिलेंगी, जिन्होंने उससे लड़कर अपने आत्मविश्वास से निर्णय लिया है।

स्त्री-विमर्श अंततः एक ऐसे समाज के स्वप्न को साकार करना चाहता है जो न्याय और समता की नई समझ पर आधारित हो। विमर्श एक अनुशासन के रूप में पूरी तरह परिपक्व और बहुआयामी अस्तित्व ले चुका है। चिंतन क्षेत्र में स्त्री-विमर्श अपनी अलग पहचान बना रहा है। स्त्री-विमर्श को सही ढ़ंग से समझने के लिए हमें प्रचीनकाल से आधुनिक काल तक की स्त्रियों का अध्ययन करना चाहिए। आदिकालीन स्त्री पात्रों में स्त्री-चेतना, अस्मिता के प्रति जागरूकता न देखना सिर्फ इस आधार पर कि वह पुरूषों द्वारा रची गई हैं तथा शृंगारिक हैं, उनके साथ अन्याय होगा। उन स्त्री पात्रों को भी स्त्री अस्मिता के आईने से देखना चाहिए क्योंकि कोई भी विमर्श या चिंतन अचानक नहीं आता, उनकी जड़ें परम्परा से ही समाज में किसी न किसी रूप में मौजूद होती हैं।

महिला लेखन के परिदृश्य में समूचा स्त्री-विमर्श भारतीय-संस्कृति और साहित्य के सन्दर्भ में उभरकर सामने आया है। कभी-कभी समकालीन अवधारणा के साथ प्राचीन को मिलाने से उसमें विस्तार होता है तथा उसका वेग और तीव्र तथा पुष्ट होता है। स्त्री-विमर्श की दृष्टि से आदिकाल के स्त्री पात्रों को परखने से स्त्री अस्मिता को और अधिक विस्तार मिलेगा तथा हमें पता चलेगा कि आज तक आदिकालीन रचना में स्त्री पात्रों को जिस दृष्टि से देखा जाता था, वह एकांगी है। उसको दूसरे पहलू से भी देखा जा सकता है तथा उसमें सुधार किया जा सकता है।

आशारानी व्होरा ने लिखा है, "धन की देवी लक्ष्मी, ज्ञान की देवी सरस्वती और शक्ति की देवी दुर्गा, से क्या अर्थ निकलता है। अवश्य ही प्राचीन भारतीय नारी इन सब शक्तियों की अधिकारिणी रही है। ऋग्वेद में सरस्वती को वाक्शक्ति कहा गया है। जो उस समय की नारी की कला और विद्वता का परिचायक है। अर्धनारीश्वर की कल्पना उसके समान अधिकार की भी पुष्टि करती है।"(29) स्त्री की स्थिति स्थानीय प्रभाव व काल प्रवाह में बदलती रही है, उसकी छवि भले ही समय-समय पर दबती उभरती रही है, परन्तु हर युग के निर्माण में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। उसकी अस्मिता को लेकर हर समय में अनेक प्रश्न उठाए जाते रहे हैं। अब समय है उन प्रश्नों के समाधान ढूंढने तथा उन्हें मानवी रूप में स्थापित करने का।

सन्दर्भ-ग्रन्थ –

1. व्होरा, आशारानी, भारतीय नारी : दशा और दिशा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1983, पृष्ठ संख्या-11
2. वही, पृष्ठ संख्या-15
3. प्रेमचंद, कर्मभूमि, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ संख्या-222
4. वर्मा, महादेवी, श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ संख्या-20
5. शर्मा, नासिरा, औरत के लिए औरत, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृष्ठ संख्या-6
6. राजे, सुमन, आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण-2011, पृष्ठ संख्या-19
7. वही, पृष्ठ संख्या-54
8. सं. जैन, अरविन्द, औरत : अस्तित्व और अस्मिता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृष्ठ संख्या-25-26
9. पांडे, मृणाल, परिधि पर स्त्री, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृष्ठ संख्या-47
10. शर्मा, नासिरा, औरत के लिए औरत, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-191
11. वही, पृष्ठ संख्या-191
12. वही, पृष्ठ संख्या-170
13. पुष्पा, मैत्रेयी, खुली खिड़कियाँ, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ संख्या-153
14. वर्मा, महादेवी, श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-13
15. धर्माधिकारी, चंद्रशेखर, मंजिल दूरच राहिली, मंजुल प्रकाशन, भोपाल, 2000, पृष्ठ संख्या-113
16. व्होरा, आशारानी, औरत : कल आज और कल, कल्याणी शिक्षा परिषद्, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ संख्या-18
17. व्होरा, आशारानी, भारतीय नारी : दशा और दिशा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-18
18. व्होरा, आशारानी, नारी शोषण : आइने और आयाम, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ संख्या-23

19. व्होरा आशारानी, औरत कल आज और कल, कल्याणी शिक्षा परिषद्, पृष्ठ संख्या-23

20. शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-35

21. वर्मा, महादेवी, श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-128

22. सं. मोहनसिंह, कविराव, पृथ्वीराज रासो, साहित्य संस्थान, उदयपुर (राजस्थान), पृष्ठ संख्या-608

23. वही, पृष्ठ संख्या-717

24. सं. द्विवेदी हजारी प्रसाद तथा त्रिपाठी, विश्वनाथ, संदेश रासक, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-160

25. वही, पृष्ठ संख्या-164

26. डॉ. गुप्त, माताप्रसाद तथा श्री नाहटा, अगरचंद, बीसलदेव रासो, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या-109-110

27. सिंह, नामवर, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या-220

28. डॉ. गुप्त, माताप्रसाद तथा श्री नाहटा, अगरचंद, बीसलदेव रासो, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-113

29. व्होरा, आशारानी, भारतीय नारी : दशा और दिशा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-22

द्वितीय अध्याय

स्त्री अस्मिता और पृथ्वीराज रासो के स्त्री पात्र

सदियों से समय की धार पर चलती हुई नारी अनेक विडम्बनाओं और विसंगतियों के बीच जीती रही है। सम्मान और शोषण के बीच में उलझा उसका जीवन भिन्न-भिन्न तरह के उतार-चढ़ाव से भरा है। नारी का इतिहास अद्यतन काल से ही विभिन्न प्रकार की विषमताओं का साक्षी है। जहाँ मुगलकाल में नारी रनिवासों की शोभा बनकर रह गई, वहीं वैदिक युग में मैत्रेयी, गार्गी, लोपामुद्रा सरीखी विद्वान महिलाएँ किन्हीं मायनों में पुरुषों से कम न थीं।

नारी निज स्वभाव में कोमलता, भावुकता और ममता की मूर्ति बनी रही। उसे सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ भिन्न-भिन्न परिस्थितियों से गुजरना पड़ा है। भारत ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व की नारी जाति को ऐसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ा है। सम्पूर्ण विश्व में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ नारी ने अत्याचार न सहा हो।

स्त्री एवं पुरुष जीवन रूपी रथ के दो पहियों के समान हैं। एक के अभाव में दूसरा अपूर्ण है। स्त्री पुरुष की सहचरी है, शास्त्रों ने उसे अर्धांगिनी की संज्ञा दी है। आदिकाल से जहाँ पुरुष पौरुष का पर्याय माना गया है, वहीं नारी को विद्याशील, ममतामयी, लक्ष्मी आदि गुणों से विभूषित किया गया। प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों के अनेक सन्दर्भ इस तथ्य के पर्याप्त साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

सामान्यतः प्रारम्भ से ही भारतीय राजनीति पुरुष प्रधान रही है। स्त्रियों का स्थान घर की चारदीवारी में ही समझा गया। समस्त राजनीतिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह पुरुषों द्वारा किया जाता था। नारी समाज के लिए हमेशा से ही एक प्रेरक तत्त्व बनी रही है और जिस तरह वह अपने कर्तव्यों का पालन करती हुई जीवन का अर्थ व्यक्त करती है, उसी से सम्पूर्ण मानव जाति के भाग्य का निर्णय होता है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही नारी ने सामाजिक-जीवन के पोषण में अपनी ममता, वात्सल्य, त्याग, करुणा, कोमलता एवं मधुरता से अपूर्व योगदान दिया है। इतिहास साक्षी है कि पुरुष ने जीवन में प्रगति पथ पर अग्रसर होने के लिए किसी-न-किसी रूप में नारी से सहायता एवं प्रेरणा अवश्य ली है। "प्रकृति ने उसके शरीर को ही अधिक सुकुमार नहीं बनाया, वरन् उसे मनुष्य की जननी का पद देकर उसके हृदय में अधिक संवेदना, आँखों में अधिक आर्द्रता तथा स्वभाव में अधिक कोमलता भर दी।"(1)

महात्मा गाँधी ने भी स्त्रियों का स्थान पुरुष से ऊँचा माना है। स्त्री और पुरुष में चारित्रय की दृष्टि से स्त्री का आसन ज्यादा ऊँचा है, क्योंकि आज भी वह त्याग, तपस्या, नम्रता, श्रद्धा और ज्ञान की मूर्ति है। पुरुष भले ही अहंकार पूर्वक यह मान ले कि स्त्री की अपेक्षा उसका ज्ञान ज्यादा ऊँचा है, लेकिन उसकी स्वाभाविक सूझ-बूझ इस ज्ञान से सही सिद्ध हुई है। राम के पहले सीता और कृष्ण के पहले राधा का नाम उल्लेख अकारण नहीं है, उसका उचित कारण है।

हिन्दी साहित्य में पृथ्वीराज रासो का विशेष महत्व है। चन्दबरदाई द्वारा रचित यह महाकाव्य वीर तथा शृंगार रस का अद्भूत समन्वय प्रस्तुत करता है। इस रचना में पृथ्वीराज के शौर्य तथा वीरता का वर्णन किया गया है परन्तु साथ ही साथ इसमें चित्रित स्त्री पात्रों को अनदेखा नहीं किया जा सकता। इसके स्त्री पात्रों में स्त्री-विमर्श के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। शृंगार रस की प्रधानता के कारण इसमें स्त्रियों के सौन्दर्य का वर्णन बड़े ही कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस महाकाव्य के स्त्री पात्र सुन्दरता के साथ-साथ विद्याशील तथा साहसी भी हैं। इसके अनेक दृश्य रचना के पाठ में मिल जाएंगे।

पृथ्वीराज रासो में नारियों की वयःसन्धि शोभा का जहाँ उपमांकन है, वहीं नारियों के रूप और शील की तुलना भी। इंच्छिनी के सन्दर्भ में कवि ने चित्रण किया है-

"वाले तन्वय मुग्ध मध्यत इमं स्व पनाय वै संघयं।
मुग्धे मध्यम् स्वांगंम वामंति इमं मध्यान्ह छाया पगं।
बालप्पन तन मध्य जीवन इमं सरसी अवग्गी जलं।
अंगं मद्धि सुनीरजे मल ससी सुम्भै सुसै सब इमं।
राका अरु सुरज्ज बिच उदै अस्त हुँहुँ बेर।
वर शशिव्रता सो भई मनौ शृंगार सुमेर।"(2)

वस्तुतः शशिव्रता का रूप और शील इंच्छिनी से भी अधिक आकर्षक था। इसीलिए कवि ने शशिव्रता के रूप-वर्णन में अधिक ध्यान दिया है। ऊपर के उदात्त वर्णन से सन्तुष्ट न होकर चन्द ने शशिव्रता के यौवनागम को वसन्त से उपमित किया है-

"पत्त पुरातन झरिग, पत्त अंकुरिय उठ्ठ तुछ।
ज्यौं सैसव उत्तरिय, चढ़िय सैसव किसोर कुछ।।
शीतल मंद सुगंध, आइ रितिराज अचानं।
रोम राइ अंकुचि नितंब, तुच्छ तुच्छं सरसानं।।
बढ्ढै न सीत कटि छीन व्है, लज्ज मानि ठंकनि फिरै।
ढकै न पत्त ढंकै कहै, बन बसंत मंत जु करै।।"(3)

उस समय समाज सें सती प्रथा प्रचलित था परन्तु पृथ्वीराज रासो में वर्णित चन्द्रिका नामक स्त्री जो की एक विधवा है के सती होने का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। उसके विधवा होने की बात तो लिखी गई है परन्तु कहीं भी उसके सती होने का कोई प्रमाण नही है।

"तिन राजन कै मंत्री, नाम आनंद चन्द भर।
तिन भगिनी चन्द्रिका, व्याह व्याही सुदूरि घर।।
नैर कोट हिसार, तास खित्रीय प्रथम बर।
अति सु प्रीति नर नारि, सुख्ख अनुभवै दाह पर।।
कोइक्क दिवस भरतार वहि, तुच्छ दीह परलोक गत।
आनई बहिनी फिर अप्प गृह, अति सु दुक्ख निसिदिन करत।।"(4)

वह राजा के वीर मंत्री आनन्दचन्द की बहन है, जिसका विवाह दूर देश हिसार में किया गया था। उसका पति क्षत्रियों में प्रमुख था। उन दोनों में विशेष प्रेम था। कुछ दिनों बाद उसके पति की मृत्यु हो गई। तब आनन्दचन्द अपनी बहन को अपने घर ले आया। इन पंक्तियों से दृष्टिगत होता है कि पति की मृत्यु के पश्चात् भी चन्द्रिका सती नहीं हुई वरन् अपने भाई के यहाँ रहने लगी। आदिकालीन समाज में जहाँ सती प्रथा को एक परम्परा बना दिया गया हो, उस समाज में चन्द्रिका का सती न होना स्त्री अस्मिता को दर्शाता है।

"अति प्रवीन विद्या लहन, गान तान सुभ साज।
केइक दिन अंतर वहिग, गइ अंतेवर राज।।"(5)

अर्थात् उसकी बहन चन्द्रिका विद्या में अति प्रवीण और अच्छे साजबाज के साथ श्रेष्ठ वाद्यों पर लय से गाने वाली थी। कुछ दिन बीतने पर वह राजा के अंतःपुर में आई। इसके द्वारा शशिव्रता का विद्याध्ययन प्रारम्भ हुआ।

चन्द्रिका एक शिक्षित तथा सभी गुणों से परिपूर्ण स्त्री थी। वह विद्या के साथ-साथ गायन तथा वादन कला में भी प्रवीण थी। वह दुःखी होकर बैठती या आँसू नहीं बहाती बल्कि अपने जीविकोपार्जन का मार्ग ढूँढ़ती है तथा राजा के दरबार में जाती है। उसका शिक्षित होना ही शायद उसके सती न होने का कारण हो। वह विद्या में कुशल होने के साथ-साथ बुद्धिमान भी थी। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हो सकता है, उसने सती होने से इन्कार कर दिया हो।

"तिह संगह ससिव्रत सुअ, पढ़न विद्य सुभ काज।
देखि कुंवरि अद्भुत अवय, रंजित व्हैं अतिलाज।।"(6)

वह राजदरबार जाती है तथा उसके द्वारा शशिव्रता का विद्याध्ययन शुरु होता है। शशिव्रता के सौन्दर्य को देखकर वह प्रसन्न होती है तथा उसके योग्य वर के लिए वह संकोच में पड़ जाती है। चन्द्रिका शशिव्रता को

पृथ्वीराज के बारे में बताती है जो बहुत ही वीर, पौरुषपूर्ण योद्धा है तथा समस्त गुणों से युक्त है। पृथ्वीराज के बारे में सुनकर ही शशिव्रता को उससे प्रेम हो जाता है। बिना देखे ही किसी से प्रेम करना तथा उसको पाने के लिए दृढ़ संकल्प लेना स्त्री के साहसी रूप को प्रदर्शित करता है। पृथ्वीराज को पाने के लिए वह मन, वचन, कर्म से शिव की उपासना में लग जाती है।

"हर सेवा नित प्रति करें, मन वाचा क्रम बंध।
बर चहुआन सु कामना, सेवा ईस सुगंध।।"(7)

पृथ्वीराज को पति रूप में प्राप्त करने के लिए वह सदैव शिव की उपासना करने लगी और उनकी सेवा में सुगंधित पदार्थ भेंट करती।

"बर बरिहों संभरि सुपहु, बियौ पुरुष मुझ भ्रात।
मिलन कियौ हर मास प्रति, भखि वैसंनर घात।।"(8)

उस कुमारी ने प्रतिज्ञा की कि मैं संभरी नरेश पृथ्वीराज को ही पति रूप में वरण करूंगी, क्योंकि अन्य पुरुष मेरे लिए भाई तुल्य हैं। यदि शिव ने एक मास में उन्हें मिला दिया तो ठीक है नहीं तो अग्नि द्वारा भस्म होकर शरीर का त्याग कर दूँगी।

सामंती समाज में जहाँ स्त्री को मात्र वस्तु समझा जाता हो उसकी भावनाओं की कोई परवाह न करता हो ऐसे समाज में एक स्त्री द्वारा इस प्रकार का संकल्प लेना निश्चय ही उसके साहसिक व्यक्तित्व को दर्शाता है। पृथ्वीराज के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को भाई तुल्य मानना तथा एक मास के भीतर संकल्प पूर्ण न होने पर प्राण त्यागने की प्रतिज्ञा करना स्त्री के मुखर व्यक्तित्व का परिचायक है। शशिव्रता में साहस, दृढ़ संकल्प तथा अनेक ऐसे गुण विद्यमान हैं जो उसके व्यक्तित्व को और निखारते हैं। वह पृथ्वीराज के पास हंस को दूत बनाकर भेजती है तथा अपना सन्देश सुनाने को कहती है।

"कहिहय दुज संकेत, हो राज्यंद धीर ढील्लीसं।
तेरसि उज्जल माघे, व्याहन बरनीय थान हर सिद्धीं।।"(9)

पृथ्वीराज से पहले ही वीरचंद बारात लेकर देवगिरि पहुँच जाता है। वीरचंद के आगमन पर शशिव्रता अपने प्राण त्यागना निश्चित करती है, परन्तु उससे पूर्व ही पृथ्वीराज के आगमन का शोरगुल उसे सुनाई देता है। वह दूत भेजकर संदेश देती है कि पूजा के बहाने वह मंदिर में मिलेगी जहाँ से पृथ्वीराज उसका हरण करके ले जाए।

"दुख देवल कौ छडनह, उर सिंचन-अंकूर।
दीह काल बल वीची बदि, लिय सामान सँपूर।।"(10)

जिससे वह प्रेम करती है उसके प्रति अपने स्वजनों का विरोध देखकर उसे दुःख होता है, किन्तु वह मन में समय को बलवान मानती हुई पूजा की सामग्री लेकर मन्दिर की ओर चल पड़ती है। किसी भी समय में स्त्रियों के लिए प्रेम करना किसी परीक्षा से कम सिद्ध नहीं हुआ है। आदिकाल हो या वर्तमान काल सभी समय में प्रेम का विरोध हुआ है, परन्तु शशिव्रता के दृढ़ निश्चय ने उसे उसके मार्ग से भटकने नहीं दिया। परिवार से विद्रोह होने का दुःख उसे है परन्तु साथ ही अपनी इच्छानुसार प्रेम को प्राप्त करने की सन्तुष्टि भी है।

"सोता से उत कंठ रंभति गुन रंभा अरंभा बरं।
संध बिद्धि सु सुद्ध-कारन-मिते, देवंगना सुंदरी।।
जाबंदै मिति चंद कारन मिते, निर्भासितं भासितं।
पाखंडं तमि लीन सूरति बरं, आरंभ पा रंभनं।।"(11)

कवि शशिव्रता के दृढ़ संकल्प और प्रतिज्ञा को देखते हुए कहता है, अभिलाषा की स्रोत, रंभा के समान गुणों वाली उस कुमारी का वरण महान युद्धारंभ कर पृथ्वीराज ने किया। उस देवांगना तुल्य सुंदरी का अपने मित्र प्यारे पृथ्वीराज के प्रति जो युद्ध हेतु था उसे विधिपूर्वक उसने पूर्ण किया। जिसकी प्रभा को देखकर चन्द्रमा भी उसके समक्ष नतमस्तक था। उसका मित्र प्राप्ति का हेतु, अप्रगट और प्रगट रूप में था। काम और लज्जा उसमें समान थी। वह शृंगार की विडम्बना से रहित, श्रेष्ठ स्वरूप को प्राप्त किए हुए थी और अपने इच्छित वर को युद्धारंभ के द्वारा उस रंभा स्वरूपी शशिव्रता ने प्राप्त कर लिया था।

"आरम्भा प्रारम्भौ, उतकंठा किंनयौ वृतयं।
साधा धरी सुधरियं, रन छुट्टै तीनयौ पनयं।।"(12)

पृथ्वीराज रासो में 'पद्मावती समय' भी स्त्री विमर्श के दृष्टिकोण से एक महत्त्वपूर्ण सर्ग है। इसमें राजकुमारी पद्मावती के सौन्दर्य तथा पृथ्वीराज से प्रेम और उसके पश्चात् आने वाली कठिनाइयों का वर्णन किया गया है, जिसका सामना पद्मावती साहस तथा धैर्य के साथ करती है। इसमें पद्मावती को एक शुक मिलता है, जिसके साथ वह क्रीड़ा करती है। जब वह शुक के साथ रम जाती है तब शुक उसके सामने पृथ्वीराज के रूप, वीरता, प्रताप तथा शौर्य का वर्णन करता है। शुक के मुख से पृथ्वीराज के बल, वैभव और रूप-सौन्दर्य की बातें सुनकर वह उस पर आसक्त हो जाती है। उसका मन करता है कि वह शीघ्र पृथ्वीराज से मिले। पृथ्वीराज से

बिना मिले या देखे ही सिर्फ उसके बारे में शुक से सुनकर उसे उससे प्रेम हो जाता है तथा वह उससे मिलने के लिए व्याकुल हो जाती है। कवि लिखता भी है-

"सुनत स्रवन प्रथिराज जस, उमग बाल विधि अंग।
तन मन चित्त चहुंवान पर, बस्यौ सु स्रह रंग।।"(13)

पद्मावती का रूप अभी तक एक मुग्धा नायिका का था, परन्तु शीघ्र ही वह बाल्यावस्था को छोड़कर यौवनावस्था में प्रवेश करती है। बेटी में यौवन के लक्षण देखकर माता-पिता को उसके विवाह की चिन्ता सताने लगती है। वे अपने पुरोहित को भेजकर उसकी सगाई कुमायूं नरेश 'कुमोदमणि' से कर देते हैं। लेकिन पद्मावती मन से तो पृथ्वीराज से प्रेम करती है। उसके मन में डर है कि कहीं उसका विवाह कुमोदमणि के साथ न हो जाए, इसलिए वह शुक के साथ पत्र भेजकर पृथ्वीराज को निश्चित तिथि पर आने का आग्रह करती है। ऐसा करने पर वह अपनी वंश-मर्यादा, पिता का सम्मान और लोकापवाद की परवाह नहीं करती।

पद्मावती दिल्ली की ओर से आने वाले मार्ग पर लगातार आँखें गड़ाए देख रही है। जब वह शुक आकर उससे मिला तब वह प्रफुल्लित हो गई। शुक के मुख से पृथ्वीराज का सन्देश सुनकर उसके नेत्र आनन्द से भर गए। कवि लिखता है –

"दिष्षत पंथ दिल्ली दिसांन।
सुष भयौ सूक जब मिल्यौ आंन।।
सन्देस सुनत आनन्द नैन।
उमगिय बाल मन मथ्थ सैन।।"(14)

पद्मावती एक क्षत्रिय की बेटी है। पृथ्वीराज के प्रति उसका प्रेम एकनिष्ठ है। संकट की घड़ी में वह बुद्धि और साहस दोनों का प्रयोग करती है। जब वह देखती है कि कुमोदमणि से उसका विवाह होने जा रहा है तो वह शुक को पत्र देकर तत्काल दिल्ली भेज देती है। यही नही वह पत्र में यह भी लिख देती है कि किस तिथि को उसका विवाह हो रहा है, वह पृथ्वीराज से आग्रह करती है कि उसी तिथि को वह मन्दिर में आकर उसका हरण कर ले। यह सारी योजना वह स्वयं बनाती है। इससे पता चलता है कि वह साहसी है तथा पृथ्वीराज के प्रति उसका प्रेम सच्चा है। जब शुक उसे पृथ्वीराज के आने का सन्देश सुनाता है तो वह आनन्दित हो उठती है। वह अपनी विरहावस्था भूल जाती है। मैले वस्त्र उतारकर स्नान करती है तथा आभूषणों से सोलह शृंगार करती है –

"तन चिकट चीर डार्यो उतारि।

मज्जन मयंक नवसत सिंगार।।

भूषन मंगाय नष सिनमदबलष अनुष।

सजि सेन मनो मन मथ्थ भूप।।"(15)

वह सज-धज कर सखियों के साथ मन्दिर में पूजा करने जाती है। पूजा के समय वहाँ पृथ्वीराज को देखकर उसकी तरफ मंद-मंद मुस्कान से देखती हुई हल्का सा घूँघट कर लेती है। इस प्रकार वह जहाँ एक ओर पृथ्वीराज के प्रति अपने प्रेम को अभिव्यक्त करती है वहीं दूसरी ओर उसे प्रेरित करती है कि वह उसका हरण कर ले।

पद्मावती एक महाकाव्योचित स्त्री चेतना से पूर्ण नायिका है। उसमें पद्मिनी नायिका के सभी गुण विद्यमान हैं। वह केवल अनुपम सुन्दरि ही नही, विदुषी भी है। एक क्षत्रिय कन्या होने के कारण संकट की घड़ी में वह असहाय होकर रोती नहीं बल्कि बुद्धि और साहस का परिचय देकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करती है। निश्चय ही पद्मावती एक वीरांगना युवती है।

"कहै जोई वरदाइ, मंत कवि चंद सुआ मन।

मनवा सौ मन मिलत, जीय तथ्कै कठ साम ना।।

जो वासुर मुरपंच, खग्ग मंडै चहुंआन।

तो भाविक जिह लेह, तिही ह्वै है परिमानं।।

भावी विगत्ति भंजन गढ़न, दइय दुसं कह जानि गति।

लिखि बाल सीस दुख सुक्ख दुह, सत्य होइ पर मान मति।।"(16)

इस पद में कवि चंद इन्द्रावती के पिता को समझाने के लिए आते हैं, तब भीम कहने लगा - हे बरदाई कवि चंद। तुम्हें सोच समझकर सम्मति देनी चाहिए। मन से मन मिलता है, वह काठ की ओर आकर्षित नहीं होता। यदि चहुआन कुछ दिनों तक खड्ग का मंडन करता रहेगा तो जैसा भविष्य में लिखा होगा वैसा ही निश्चय रूप से होकर रहेगा, क्योंकि विधाता की गति दुरुह है। यदि भविष्य (भाग्य) वश हमारे दुर्गों का टूटना लिखा है तो वे टूटकर ही रहेंगे। इसी प्रकार कुमारी इन्द्रावती के भाग्य में दुःख या सुख जैसा भी लिखा होगा, वैसा ही होगा, किन्तु मैंने अपनी बुद्धि से जो विचार किया है, वही सत्य और सही है अर्थात् मैं खड्ग के साथ कुमारी का विवाह नहीं करूँगा।

"सुनि इन्द्रावति सुन्दरी, धरनि सरन सिर लाइं।

कै धरनी फट्टै कुहर, कै पावक जरि जाइ।।"(17)

पिता की यह बात सुनकर सुन्दरी इन्द्रावती ने अपना मस्तक नीचा कर लिया और मन ही मन कहने लगी, हे पृथ्वी! तू फटकर मुझे स्थान दे दे ताकि मैं उसमें समा जाऊँ अथवा अग्नि में जलकर भस्म हो जाऊँ।

"इन भव नृप सोमेस सुअ, जुध बंधन सुरतान।
कै जलद्धि बूड़वि मरै, अवर न वंछौ प्रान।।"(18)

मैं तो इस संसार में या इस जन्म में बादशाह को बाँध लेने वाले राजा सोमेश्वर के पुत्र पृथ्वीराज को ही चाहती हूँ उसके बिना मेरे लिए समुद्र में डूबकर मरना ही श्रेष्ठ है।

"सखी कहै सुनि बत्त, सुनौ दानव कुल कहियै।
अवर जाति अन्नेक, राइ गुर परनह लहियै।।
करै कौन परसंग, पाइ मृगमद घनसारं।
कोन करै कुष्टीन, सग लहि कामवतारं।।
तो पित्त अवर बर जो दियै, तो नन जंपै अलिय वच।
राचियै अप्प राचै तिनह, अनरच्चौ रच्चै न सुच।।"(19)

तब सखी इन्द्रावती से कहने लगी, हे कुमारी! सुनो चहुआन नरेश ढूँढा दानव का वंशज कहा जाता है। उसके अतिरिक्त अन्य अनेक क्षत्रिय जातियाँ हैं अतः तुम्हारे लिए उनमें से किसी एक श्रेष्ठ राजा के साथ विवाह करना अच्छा है, क्योंकि कस्तूरी को प्राप्त करने पर कर्पूर को कोई नहीं चाहता, कामदेव तुल्य पुरुष का संसर्ग छोड़कर कोढ़ी पुरुष से कोई सम्पर्क नहीं करता। इसीलिए यदि तुम्हारे पिता किसी अन्य वर से तुम्हारा विवाह कर दें तो तुम निषेध मत करना, क्योंकि जो व्यक्ति हमसे अनुराग करता हो, हमें भी उसी से अनुराग करना चाहिए। जो हमसे प्रेम नहीं करता हो उससे हमारा प्रेम करना अच्छा नहीं।

"तुम दासी दासी सुमति, मो मति नृप पुत्रीय।
बोलि विंन चुक्कै न नर, जो वर मुक्कै जीय।।"(20)

इन्द्रावती कहती है, दासी होने के कारण तुम्हारी बुद्धि भी उसी के अनुसार तुच्छ है, किन्तु मेरी बुद्धि तो राजकुमारी सी है, जो प्राण के चले जाने पर भी अपने वचनों से नहीं टलती।

'पृथ्वीराज रासो' की संयोगिता हिन्दी काव्य के इतिहास में ऐसी प्रथम नायिका है, जिसके रूप-गुण-शील का वर्णन करने के साथ-साथ कवि ने उसके हृदय में पृथ्वीराज के प्रति अनुराग भी जागृत किया। एकनिष्ठ प्रेम की दृष्टि से संयोगिता हिन्दी काव्य में वर्णित नारियों का सही प्रतिनिधित्व करती है। रुप तथा गुण से सम्पन्न

संयोगिता का पृथ्वीराज के प्रति निरन्तर बढ़ता प्रेम अनेक अवरोधों के होते हुए भी अधिक मुखर हो उठता है। उसमे जहाँ नारी सुलभ दुर्बलताओं को पाते हैं, वहाँ स्वाभिमान और क्षात्र- धर्म से लैस स्त्री चेतना के भी दर्शन होते हैं। एक स्थान पर वह विचार करने लगती है कि लोग नारियों की न जाने क्यों नीच बुद्धि समझते हैं। वे यह नहीं जानते कि इस सृष्टि की रचना स्त्रियों से ही हुई है। जो नारी जीवन पर्यन्त दुःख-सुख में हाथ बँटाती है, उसे तुच्छ मानना नारी के प्रति अन्याय नहीं तो और क्या है?

कवि ने इस ग्रंथ मे नारी के रूप-वर्णन के साथ-ही-साथ षट्ऋतुओं का वर्णन भी किया है। इन वर्णनों में हमें ऋतुओं की विशेषता के साथ-साथ इसका उल्लेख भी मिलता है कि संयोगिनें क्यो सुखी हैं और वियोगिनें क्यो दुःखी? पृथ्वीराज की प्रत्येक नारी उन्हें अपना वियोग कष्ट सूचित कर रति के लिए आह्वान करती है और ऋतु का वर्णन तो एक साधन मात्र है। ऋतुओं का समूचा प्रकरण कामोद्दिपन भावना से ओत- प्रोत है। ऋतुओं का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि वसन्त ऋतु में जब कोयल कुकती है तो मुकुलों मे कामोद्दीपन हो जाता है। ऐसे मतवाले वसन्त में पृथ्वीराज-संयोगिता के मिलन की बात बड़ी मादकतापूर्ण है।

रासो के मूल भाग में संयोगिता स्वंयवर, कैमास वध और पृथ्वीराज- शहाबुद्दीन- संघर्ष प्रसंग है। इन तीनो की ऐतिहासिकता सिद्ध की जा सकती है। रंभामंजरी और हम्मीर महाकाव्य में संयोगिता का नाम न आने से संयोगिता अनैतिहासिक सिद्ध नहीं होती। पृथ्वीराज-प्रबंध में जयचंद और पृथ्वीराज का वैमनस्य सिद्ध है। 'पृथ्वीराज विजय' में भी गंगा-किनारे स्थित किसी राजकुमारी से पृथ्वीराज के प्रणय का निर्देश है।

'सुर्जन चरित' और 'आइने अकबरी' में भी संयोगिता की कथा अपने पूर्ण रूप में वर्तमान है। संयोगिता के विषय में अनेक वर्षो के बाद भी हम यह कह सकते है कि जो राजकुमारी जिसकी रसमयी कथा चाह्वान वंश के इतिहासकार चंद्रशेखर के 'सुर्जनचरित' में स्थान प्राप्त कर चुकी है जिसका सामान्यतः निर्देश 'पृथ्वीराज विजय' महाकाव्य में भी मिलता है, जिसके पिता जयचंद और पृथ्वीराज के बीच का वैमनस्य ऐतिहासिक तथा तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के अनुकूल है, जिसकी अपहरण की कथा अभूतपूर्व एवं असंगत नहीं है, जिसकी ऐतिहासिकता के विरुध्द सभी युक्तियाँ पूर्वाभास मात्र है, उस संयोगिता को हमें प्रामाणिक मानने में कोई असमंजस नहीं होनी चाहिए।

नारी की वयः संधि शोभा कवियों के लिए सदैव आकर्षण की वस्तु रही है। इसके लिए नाना उपमानों का जमघट लगाया गया है। रासो में इंच्छिनी और शाशिव्रता की वयःसंधि का वर्णन अतुलनीय है। शशिव्रता के रूप का वर्णन करते हुए कवि ने उसे श्रृंगार का सुमेरू कहा है।

पृथ्वीराज रासो श्रृंगार के अतिरिक्त अन्य कई कारणों से भी पाठकों का ध्यान आकर्षित करती है। उसमें स्त्री चेतना के गुण भी विद्यमान हैं। संयोगिता अपने निर्णय पर अडिग रहती है। अपने पिता के शत्रु से प्रेम करना तथा उसके वरण के लिए तत्पर रहना स्त्री-चेतना को प्रदर्शित करता है।

भारतीय संस्कृति में गंधर्व विवाह, अपहरण, स्वंयवर आदि की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। दिल्ली के राजा से भला कौन राजकुमारी उस समय विवाह नहीं करना चाहेगी। उस काल में पति के पद से ही स्त्रियों की स्थिति तय होती थी। अतः संयोगिता के पृथ्वीराज से विवाह के निर्णय में कोई अनोखी बात नजर नहीं आती। लेकिन पिता के परम शत्रु को पति के रूप में वरण करना अवश्य संयोगिता के स्वतंत्र व्यक्तित्व का परिचायक है। पृथ्वीराज के वरण को लेकर संयोगिता में कोई दुविधा नहीं है। संयोगिता स्पष्ट कहती है-

"मय मन मझ्झज गुझ्झ गुरूज्जन छंडि स तुम कहउं।
जंपत लज्जइ जीह न अक्षर लहु लहउं।।
षट दह जिहि सामंत सोइ प्रथीराज कोइ।
दान षग्ग भय मानि न मुक्कउ तात सोइ।।"(21)

इस पद में संयोगिता स्पष्ट कहती है कि मेरे मन में जो बातें है वह किसी अन्य से न कह कर मैं तुमसे कह रही हूँ। यद्यपि इसे कहने में मेरी जिह्वा लज्जा का अनुभव कर रही है और मैं एक अक्षर भी नहीं कह पा रही हूँ। जिसके सोलह या साठ सामंत हैं, वही पृथ्वीराज मेरा वर है। पृथ्वीराज ने मेरे पिता से भय नहीं माना और वह मेरे पिता से युद्ध के लिए तैयार है। संयोगिता पुनः आगे कहती है कि –

"आ रन्नी अजमेरि धुम्मि धमनी कति मंडि मंडोवर।
मोरी रा मुरमंड दंड दमनो अगिनी उतिठ्ठा कर।
रणा थंभ थिर थंभं सीस अहिरणि जलजिष्टि कालिंजर।
कप्पानं चहुआन जानु घनयो षरनोपि गोरी घर।"(22)

यह प्रशंसा उसके लिए है, जो संयोगिता के पिता जयचंद का सबसे बड़ा शत्रु है। इस पद में पृथ्वीराज की प्रशंसा करते हुए संयोगिता कहती है कि पृथ्वीराज ने अजमेर में धूम मचाई और मंडोवर को काटकर खंडित किया। मरूमंड के मोरी राज को दंडित करके उसका दमन किया और लपटों वाली अग्नि बनकर स्थिर स्तंभ वाले रंथमौर के सिर पर अभिरमण किया और कालिंजर को जलमग्न किया। पृथ्वीराज चौहान की कृपाण गोरी की धरा पर घना की भाँति घहराई अर्थात् गोरी भी पृथ्वीराज से आतंकित था। निश्चय ही संयोगिता पृथ्वीराज से अभिभूत थी, और ऐसे पराक्रमी तथा शौर्य वाले पृथ्वीराज को वह मन ही मन अपना पति मान चुकी थी।

जयचंद को जब अपनी पुत्री संयोगिता के प्रेम का पता चला तो वह अत्यन्त क्रोधित हुआ। उसने संयोगिता को समझाने-बुझाने हेतु दूती का को भेजा। उस समय नायक-नायिका के प्रेम में दूती का महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। दूती तरह-तरह से संयोगिता को समझाने लगी। दूती ने कहा कि –

"तो जा पुत्तीय मरमठ्ठ थट्ट सबले निम्मंचि वइरागर।
करणाटी करवीर नीर गहनो गुंडी गुर गूर्जर।
निर्माली हथमेव मालव धर मेवाड मंडोवर।
जत्तउ तात इति सेव देव नृपयो तत्तानि कि तू वर।"(23)

हे संयोगिता। तुम जिसकी पुत्री हो उसने महाराष्ट्र, भट्टा, नीमच और वैरागर को भ्रष्ट किया है अर्थात् रौंदा है। कर्णाट, करवीर, गुंड और गुरू गुर्जर की क्रान्ति के लिए तुम्हारे पिता ग्रहण बने। तात्पर्य है कि इन सभी स्थानों के राजा तुम्हारे पिता की अधीनता स्वीकार करते हैं। तुम्हारे पिता ने निर्माल्य हाथ में होने की भाँति ही मालव भूमि, मेवाड़ और मैडोवर को हस्तगत किया। उक्त देशों के देव जैसे नृप तुम्हारे पिता के सेवक हैं। तुम इन्हीं राजाओं में से किसी का वरण क्यों नहीं करती।

इस पद के माध्यम से जयचंद की विरता, यश का प्रलोभन देकर दूती संयोगिता का हृदय परिवर्तन करना चाहती है। परन्तु दूती के कथनों का संयोगिता के हृदय पर कोई प्रभाव नहीं होता है। वह अपनी प्रतिज्ञा से थोड़े समय के लिए भी नहीं हटती। वह स्पष्ट शब्दो में कहती है –

"नमो राजान संवादे नमो गुरूजनागरे।
वर मेकं सयं देह अन्यथा पृथिराज ए।।"(24)

मुझे सौ जन्म ग्रहण करना पड़े, तब भी मैं पृथ्वीराज का ही वरण करूँगी। बेशक स्वयंवर हेतु राजाओं ने संदेश भेजा है और गुरूजनों ने आदेश दिया है कि मैं उन्हीं राजाओ में से किसी का वरण करूँ, लेकिन मैंने एक बार पृथ्वीराज को वरण करने का निश्चय ले लिया है और अब मैं उस निर्णय को बदल नहीं सकती। जब दूती ने देखा कि पिता का ऐश्वर्य और प्रभाव संयोगिता के निर्णय को नहीं बदल सकता तो उसने एक दूसरी युक्ति का सहारा लिया। दूती ने यौवनावस्था में काम के आनंद का वर्णन प्रारंभ किया, जिससे संयोगिता कामाभिमुख होकर पृथ्वीराज का इंतजार छोड़ दे और किसी अन्य का वरण कर ले। दूती संयोगिता से कहती है –

"जाने मंदिर दार चीर चिहुरा वाढंति चित्तानला।
जाता फुल्लित चंपकस्थ कलया मनुकंदर्प दीपा प्रहा।

झंकारे भमरे उडंति बहुला फुल्लानि फुल्लंटिया।

सोयं तोय संजोगि भोग समया प्राप्ते वसंतोत्सवे।।"(25)

संयोगिता तुम्हें भोग का समय अर्थात् वसंतोत्सव प्राप्त हुआ है, तुम्हें इस अवसर को व्यर्थ इंतजार में नहीं बिताना चाहिए। इस समय चित्त की अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। ऐसे समय में तुम किसी भी राजा का वरण कर कामोत्सव का आनंद ले सकती हो। आगे दूती कहती है कि –

"थिरू बाले वल्लम मिलन जउ जीवन दिन होइ।

अये जीवन कुब्बन तन सु को मंडइ रति सोइ।।"(26)

हे सुंदरि, इस संसार में स्थिर केवल प्रिय से मिलन है। यदि यौवन के दिन हों तो सर्वत्र कद्र होती है। यौवन के चले जाने पर जब तन विकृत हो जाता है, तब कोई नहीं पूछता है। दूती संयोगिता को विभिन्न उपमानों को सामने रखकर बताती है कि –

"इंदो कि अंदोलिया अमीए चक्कीव गंगा सिरे।

वच्छी छीरे विचार चारू भमरे चिंचीन बंका करे।

तत्स्थाने कर पाद पल्लव वसा बल्ली वसंता हरे।

चतुरे तु चतुराय आनन रसे साजीव मदनावरे।।"(27)

इंदु, क्यों इंदु है? ज्योत्स्ना के अमृत के कारण। शिव भी, शिव क्यों हैं ? गंगा के सिर पर होने के कारण। बछड़े वाली गौ, वत्सिन् क्यों है? भ्रमर, भ्रमर क्यों है? फूलों पर विचरण के कारण। चिंची (एक प्रकार का फल) चिंची क्यों है? अपने फलों के कारण। हस्तिनी, हस्तिनी क्यों है? अपनी सुन्दर सूंड़ तथा पल्लव सदृश पैरों के कारण। वल्ली, वल्ली क्यों है? क्योंकि वह वसंत को ग्रहण करती है। इन सारी उद्घृत उपमाओं के समान ही तुम्हारे मुख तथा जिह्वा की जो चतुरता है, वह मदन द्वारा आवृत्त होने के कारण है। निश्चित ही दूती के कहने का तात्पर्य है कि तुम्हारे शरीर की उपयोगिता यौवन के कारण है, उस यौवन को यूँ जाया न करो। किसी राजा का वरण करो और यौवन की उपस्थिति को सार्थक करो।

लेकिन दूती के समझाने और उकसाने का संयोगिता पर कोई असर नहीं हुआ। उसका निश्चय अडिग था। संयोगिता दूती पर व्यंग्य करती हुई कहती है –

"तुव सम मात न तात तनु गात सुरत्तरियाहं।
जुव्वनु धन अथ्थिर रहे अंभु कि अंजुरियाहं।।
संवादेव विनोदेव देव देवेन रक्षते।
अन्य प्राणोअथवा प्राणो प्राणेश दिल्लीश्वरः।।"(28)

उक्त पदों में संयोगिता दूती पर व्यंग्य करती हुई कहती है कि तुम अत्यंत सुंदर हो, तुम्हारे समान न तो तुम्हारी माता है और न ही तुम्हारे पिता के शरीर सुंदर हैं। लेकिन तुम ये बताओ कि क्या कभी अंजलि में पानी स्थिर रहता है। अर्थात् जैसे अंजलि में पानी स्थिर नहीं रह सकता, उसी प्रकार जिस यौवन के उपभोग की बात तुम कर रही हो, वह भी अस्थिर है। दूसरे पद में संयोगिता कहती है कि मेरे प्राणेश्वर दिल्ली के राजा पृथ्वीराज हैं। चाहे इस प्राण से या किसी अन्य प्राण से, अर्थात् चाहे इस जन्म में या अन्य जन्म में वही मेरे पति होंगे।

संयोगिता की इस प्रतिज्ञा की खबर पृथ्वीराज को मिलती है। चंद पृथ्वीराज को बताता है कि तुम्हारे परम शत्रु जयचंद की पुत्री संयोगिता ने तुम्हें वरण करने का निश्चय किया है –

"तिहि पुत्तिय सुनि गन इतउ तात वचन तजि काज।
कइ वहि गंगहिं संचरउं कइ पानि गहउं पृथ्वीराज।
सुनत राइ अचरिज भयउ हियइ मन्यउ अनुराउ।
नृप वर अनि उर अंगमइ दैवहि अवर स भाउ।।"(29)

चंद पृथ्वीराज से कहता है कि जयचंद की पुत्री संयोगिता के संबंध में मैंने सुना है कि संयोगिता अपने पिता के वचन और स्वयंवर का परित्याग कर देगी, वह केवल पृथ्वीराज का ही वरण करेगी, अन्यथा गंगा में डूब कर अपनी जान दे देगी। पृथ्वीराज को संयोगिता के संकल्प की बात सुनकर आश्चर्य हुआ। अपने प्रति संयोगिता के अनुराग और संकल्प का अनुमान करते हुए उसने कहा कि जयचंद संयोगिता के लिए भले ही किसी अन्य वर का निश्चय कर चुका हो, लेकिन ईश्वर ने उसके लिए किसी दूसरे वर को चुना है।

संयोगिता के संकल्प और दृढ़ निश्चय को देखकर जयचंद ने उसे गंगा के किनारे एक अलग महल में रखने का निश्चय किया। जयचंद ने सोचा कि कुछ दिनों तक अलग रहने के पश्चात संयोगिता अपना निर्णय बदल देगी।

"तब झुकित राइ गंगह तट त रचिपचि उच्च आवास।
चाहि गहउ चहुआन तकु जु मिट्टइ बाला आस।।"(30)

राजा जयचंद ने क्रोधित होकर गंगा के तट पर एक ऊँचा आवास बनवाया और संयोगिता को उसमें रखा। जयचंद ने सोचा कि इस दौरान वह पृथ्वीराज को पकड़ लेगा और पृथ्वीराज को वरण करने की संयोगिता की अभिलाषा समाप्त हो जाएगी। लेकिन पृथ्वीराज के वरण को लेकर संयोगिता का निश्चय दृढ़ था।

संयोगिता के व्यक्तित्व में केवल दृढ़ निश्चय ही नहीं है। संयोगिता अत्यन्त सूझ-बूझ वाली भी है। गंगा के किनारे मछलियों को दाना चुगाते हुए जब संयोगिता और उसकी सखियों ने पृथ्वीराज को देखा तो उसे लेकर सबने तरह-तरह की शंकाएँ व्यक्त कीं। किसी ने पृथ्वीराज को देवता कहा तो किसी ने दानव, किसी ने मुनीन्द्र कहा तो किसी ने शिव, एक ने कहा कि यह तो दिल्ली का राजा पृथ्वीराज है –

"दिष्षित सुंदरि दल वलनि चमकि चडंति अवास।
नर कि देव किधु काम हर गंग हसंति निवास।।
एक कहइ दानव देव हइ एक कहइ इंद मुनिंद।
एक कहइ एसे कोटि नर एक कहइ प्रथिराज नरिंद।।"(31)

संयोगिता जयचंद की सेना को जाता देखकर महल की छत पर चढ़ गई। संयोगिता गंगा के तट पर पृथ्वीराज को देखकर सखियों से पूछती है कि यह कौन है, जो गंगा के किनारे है। यह कोई नर है यै कोई देवता है, या मदन है, या शिव है। संयोगिता के प्रश्नों के उत्तर में एक सखी कहती है कि यह दानव या देवता है, एक सखि कहती है कि यह इंद्र या मुनिंद्र (कोई बड़ा मुनि) है। एक सखि कहती है कि यह एक सामान्य नर है और ऐसे करोड़ों नर होते हैं। लेकिन इन्हीं सखियों में से एक ने कहा कि यह नरेंद्र पृथ्वीराज हैं। पृथ्वीराज का नाम सुनते ही संयोगिता उल्लास से भर गई। संयोगिता के उल्लास को देख एक सखि सलाह देती है कि पहले इस बात का निश्चय करें कि यह कौन है।

"गुरुजन गुरु न निंदरिय सुंदरि।
राजपुत्ति पुछ्छइ न दुंदरि।
अमु पुछ्छइ लउ दुत्ति पठावइ।
गुन अछ्छइ पछ्छइ करिआवइ।।"(32)

संयोगिता की एक सहचरी ने कहा कि हे सुंदरि इस प्रकार शोर मचाकर आप परिजनों और गुरूओं की निंदा मत होने दीजिए, अर्थात् आपके उच्छृंखल व्यवहार से आपके कुल की बदनामी होगी। हे राजकुमारी आप स्वयं द्वन्द्व में हैं, तात्पर्य कि आप अभी स्वयं पृथ्वीराज को नहीं पहचानतीं। वह पृथ्वीराज है कि नहीं, यह जानने

के लिए आप एक दूति भेजिए। यदि वह सचमुच पृथ्वीराज है तो वह दूती निपुणता से उसे मनाकर अर्थात् आपके पक्ष में करके आए।

संयोगिता सोचने लगती है कि कैसे इस बात की पहचान की जाए कि सामने वाला व्यक्ति पृथ्वीराज ही है। उसने एक युक्ति निकाली। उसने अपनी दूती को मोतियों से भरा हुआ थाल दिया और कहा कि इस थाल को पृथ्वीराज के सामने रखना, यदि वह सचमुच पृथ्वीराज होगा तो वह पूर्ववत् मछलियों को मोती का दाना चुगाता रहेगा, मोती कहाँ से आए इस बारे में न पूछेगा –

"पंगुरा सा पुत्तिय मुत्तिय थार भरि।
यो त्रिय जउ पृथीराज न पुछ्छइ तोहि फिरि।
जउ इन लष्षन सब सहित बिचार न सोइ करि।
हइ व्रत मोहि नि जीव सु लेउं सजीव वरि।"(33)

तुम मोतियों के फेंके जाने की चिंता मत करना। यदि वह पृथ्वीराज हुआ तो मैं उसी का वरण करूँगी, इस शरीर से मैं किसी और का वरण नहीं करूँगी। जाहिर है संयोगिता की यह 'युक्ति' मनोवैज्ञानिक है, जो राज व्यवहार के अनुकूल है। एक राजा के मन में, मोती कहाँ से आ रहा है, यह सवाल स्वाभाविक रूप से नहीं उठता। निश्चय ही संयोगिता न केवल राजकुमारी थी, बल्कि उसे राजसी मनोभाव और व्यवहारों की भी गहरी समझ थी।

संयोगिता के निर्देशानुसार दूती पृथ्वीराज के पास जाती है। जैसा कि संयोगिता का अनुमान था पृथ्वीराज यथावत् मछलियों को मोती चुगाता रहता है, वह मोतियों के संदर्भ में कुछ नहीं पूछता। दूती को देख पृथ्वीराज दूती का परिचय और उसके आने का कारण पूछता है। सारी बातें विस्तार से जान पृथ्वीराज संयोगिता के महल पहुँचता है, जहाँ संयोगिता और पृथ्वीराज का परिणय होता है।

"हउं अछ्छरी नरिंदु नाहि दासि गेह राय पंगुरे।
तास पुत्ति जमं छाडि ढिल्लिनाथ आदरे।
सा जमं सूर चाहुवान मान इमं जानये।
प्रतष्षि हीर जुध धीर यो सुवीर संचही।
वरंतु प्रान मानिनी चलंति देत गंठही।
सुनंत सूर अस्व फेरि तेजि ताम हंकियं।
मनउ दलिद्द रिद्धि पाय जाय कंठ लग्गियं।

कनक्क कोटि अंग धात रास वास माल ची।
करिस्य कामं कंकनं सु पानिबंध बंधये।
जु भावरी सषी सल्लज रूंझ तुरंयं वज्जये।
आचारू चारू देव सब्ब दोइ पष्ष जंपही।
अनेक (अनिक्क) सुष्ष मुष्ष सीस जुध्ध साध लग्गियं।
सु कंत कंत अंत ता तमोरि मारि अप्पियं।।"(34)

दूती कहती है, हे राजन्, मैं अप्सरा नहीं हूँ, मैं जयचंद के घर की दासी हूँ। जयचंद की पुत्री संयोगिता ने जीवन का मोह त्याग कर दिल्ली के राजा पृथ्वीराज के वरण का निश्चय किया है। उसने यह जीवन ही पृथ्वीराज को वरण करने के लिए धारण किया है, आप ऐसा ही समझिए। जिस राजा की कांति हीरे के समान है, जो युद्ध में वीर और धीर है, संयोगिता उसी पृथ्वीराज की अनुरागी है। पृथ्वीराज के लिए ही वह मानिनी अब तक प्राण धारण कर रही है। उसने चलते समय मुझसे कह दिया कि मैं उसका संदेश आपको अवश्य दूँ। यह सब सुनते ही पृथ्वीराज घोड़े पर सवार होकर संयोगिता की तरफ जाने लगा। इस प्रकार पृथ्वीराज, संयोगिता के पास पहुँच कर उसके गले मिला, उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो किसी दरिद्र को ऋद्धि की प्राप्ति हो गई हो। उस समय संयोगिता के अंगों से करोड़ों सोने की आभा निःसृत हो रही थी और अंगों से मालाओं की राशि के समान सुवासित सुगंध आ रही थी। संयोगिता की कलाइयों में जो कंगन पड़े थे, वही पाणि-ग्रहण के काम आए। भाँवरों पर सखियों ने जो मंगल गान गाया, वही तुर्य के समान बजे। ऐसा प्रतीत होता था, मानो दोनों पक्षों से सुंदर आचार गायन देव गणों द्वारा किया जा रहा हो। परंतु इन सबके बीच पृथ्वीराज के मन में युद्ध की बातें भी चल रही थीं। पृथ्वीराज के मन में चल रहे भावों को पहचानकर संयोगिता नें अपने कांत (स्वामी) को विदाई के पान अर्पित किए। अर्थात् संयोगिता ने पृथ्वीराज को विदा करते हुए पान खिलाया।

इस प्रकार तमाम अवरोधों और आशंकाओं के पश्चात् अन्ततः संयोगिता को उसका मनचाहा वर मिल गया। संयोगिता को सहज ही पृथ्वीराज का साथ नहीं मिल गया, उसे इसके लिए संघर्ष करना पड़ा, अनवरत् कठिन संघर्ष। लेकिन संयोगिता का संघर्ष यहीं समाप्त नहीं होता, उसे अपने द्वारा चुने हुए वर पृथ्वीराज के संग अपने पिता के राज से बाहर निकलना है। इससे पहले पृथ्वीराज के वरण के पश्चात् उसे अपने उत्तेजित काम भावनाओं को भी समाप्त करना है। काम की तरंगें उसके संपूर्ण शरीर और मन मस्तिष्क को व्यथित कर रही हैं।

"पानि परसि अरू दीठ विलग्गिय।
सा सुंदरि कामागनि जग्गिय।

जउ वरू बारि गए तनु मीनउ।
अंगना अंग सउ चंदनु लावइ।
अरू अंगन लाजन समुझावइ।
दे अंचल चंचल द्रिग मुद्दइ।
कुल सभाउ तुरी जिम कुद्दइ।।"(35)

संयोगिता ने पृथ्वीराज के हाथ का स्पर्श किया था और अब वह पृथ्वीराज से मिलने के लिए व्याकुल थी। उस सुंदरि बाला की कामाग्नि जाग गई थी। उसके शरीर की स्थिति वैसी ही हो रही थी, जैसे जल न रहने पर मछली की होती है। संयोगिता अपनी कामाग्नि शांत करने के लिए अपने अंगों पर चंदन लगाती है। उसे अपने अंगों की उत्तेजना पर स्वयं लज्जा होती है। वह अपने अंगों को समझाती है कि उन्हें आतुरता प्रकट नहीं करनी चाहिए। वह अपने आँचल से अपने नेत्रों को मूँदती है, परंतु उसके चंचल नेत्र ठीक उसी प्रकार उसका कहना नहीं मानते, जिस प्रकार बाँध दिए जाने पर भी घोड़े उछल-कूद जारी रखते हैं। यहाँ संयोगिता का चित्रण एक सामान्य नवयुवती के रूप में हुआ है, जो अपने पति की कामाग्नि में अत्यन्त व्याकुल है। लेकिन विस्मय तब होता है, अथवा यों कहें कि संयोगिता के व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य तब सामने आता है जब संयोगिता कामाग्नि में जलते हुए भी पृथ्वीराज को देखकर खुश नहीं होती।

"बहुत जतन संजोगी समवै।
सोम अमृत कमल तुम्ह नु छवै।
इह कहि बाल गवक्षिन पत्तिय।
पति देषत मन महि नहि रत्तिय।"(36)

संयोगिता ने अपनी कामाग्नि को शांत करने के लिए अनेक यत्न किए, किंतु उन यत्नों में उसे सफलता नहीं मिली। उसने कहा कि हे चंद्रमा, अमृत और कमल! तुमसे शीतलता की अपेक्षा करना व्यर्थ है, अतः तुम्हारा स्पर्श करना व्यर्थ है। इतना कहकर संयोगिता खिड़की के पास पहुँची। उसने पृथ्वीराज को आते हुए देखा। जो संयोगिता पृथ्वीराज के लिए इतनी व्याकुल थी, वही युद्ध छोड़कर पृथ्वीराज को अपनी ओर आते देखकर प्रसन्न न हुई।

निश्चय ही संयोगिता प्रिय मिलन के लिए अत्यन्त व्याकुल थी, लेकिन इस व्याकुलता को शांत करने के लिए वह पृथ्वीराज को अपने कर्त्तव्य पथ से विमुख नहीं करना चाहती थी। वह चाहती थी कि पृथ्वीराज पहले अपना कर्त्तव्य पूरा करे। इसी क्रम में वह पृथ्वीराज को अपनी ओर आता देखकर सर पीट लेती है।

"इह कहि सिर धुनि सषिन सउं दिष्षि संजोगि सुरज्ज।
जिहिं प्रिय तन अंगलि फिरइ तिहिं प्रियजन कहा कज्ज।"(37)

राजा को देखकर संयोगिता ने सिर पीटते हुए कहा कि जिस प्रिय की ओर लोगों की उँगलियाँ उठें अर्थात् जिस प्रिय के कार्य को लोग शिकायत भरी नजरों से देखें, उस प्रियजन का क्या कार्य? पृथ्वीराज को अपनी ओर आता देखकर संयोगिता ने अनुमान लगाया कि पृथ्वीराज युद्ध से विरत होकर मुझसे मिलने आ रहे हैं। यही सोच संयोगिता के व्यथा का कारण बना क्योंकि वह नहीं चाहती थी कि उसके ऊपर अपने पति पृथ्वीराज को कर्त्तव्यविमुख करने का लांछन लगे। लेकिन संयोगिता की शंका को निराधार करते हुए एक सामंत ने कहा कि-

"सुनत सामंतन सत्त कहि पंग पुत्ति धर मंथ।
इहि सथ्थहि सामंत सुभट जवइ ठिल्लहिं गय दंत।"(38)

हे! पंगपुत्री (संयोगिता) पृथ्वीराज धरा का मस्तक हैं, और इसके साथ जो सामंत-सुभट हैं, उनमें इतनी क्षमता है कि वे हाथियों के दाँतों को भी ठेल देते हैं अर्थात् उनमें इतनी क्षमता है कि वे हाथी के दाँत को तोड़ दें। इसलिए तुम यह मत समझना कि पृथ्वीराज युद्ध से भयभीत होकर तुम्हारे पास आया है। पृथ्वीराज की कर्त्तव्य परायणता और वीरता की बात सुनकर संयोगिता हर्ष से भर गई।

"सुंदरि सोचि समच्छिम गहगह कंठ भरि।
तबहि प्रान पृथिराज त षंचिअ बाहु करि।
दिय हय पुठ्ठिय भार सु सव्व सु लष्षिनउ।
करति तुरंग सुरंग पुछ्छि ति वछ्छ नउ।"(39)

अर्थात् पृथ्वीराज के युद्ध के विषय में सुनकर संयोगिता खुशी से भर गई। उसने आनंद से आह्लादित होकर पृथ्वीराज को गले से लगा लिया। तब संयोगिता के प्राण पृथ्वीराज ने उसकी बाँह खींचकर उसे गले से लगा लिया, और सभी गुणों से संपन्न स्त्री को घोड़े की पीठ पर बिठा लिया और वह घोड़ा भी पूँछ तथा छाती के सुंदर खेल करने लगा, अर्थात् घोड़ा भी हवा से बातें करने लगा।

संयोगिता को घोड़े पर बिठा कर पृथ्वीराज स्वयं जयचंद की सेना से युद्ध करने लगा। युद्ध को अत्यन्त विकट और लंबा खिंचता देखकर चंद ने पृथ्वीराज को सलाह दी कि वह संयोगिता को लेकर दिल्ली की ओर कूच करे।

"मरणा दीजइ पृथिराज हसहि छत्र करि पइठ्ठउ।
मीच लग्ग निअ पायि कहइ आइ घरि बइठ्ठउ।
पंच घट्टि सो कोस कहइ ढिल्लिय अस कथ्थउ।
इक्कु इक्कु सुरवा पेषि दल वाहत नथ्थउ।
घर धरणि परिण राउ पंगुकी पहुचइ यह वड्डुत्तणउ।
जब लग्गि गंग जल चंद रवि तव लगि चलइ कवित्तणउ।"(40)

चंद ने पृथ्वीराज से कहा कि हे पृथ्वीराज यदि क्षत्रिय को मरण दीजिए, तो उसे पाकर वह हँसता है। मृत्यु को क्षत्रिय अपने घर में बिठाना चाहता है। लोग कहते हैं कि यहाँ सौ में से पाँच कम अर्थात् पंचानबे कोस दिल्ली है। एक-एक शूर युद्ध में शस्त्र चलाते हुए शत्रु की सेना को देखे। बड़प्पन इसी में है कि आप जयचंद की पुत्री को पत्नी के रूप में वरण करके दिल्ली पहुँचें। आपका कृत्य सही है अथवा नहीं, इस विषय पर हम लोग तब तक बातें कर सकते हैं जब तक गंगा में पानी और इस धरती पर चंद्रमा और सूरज रहेंगे। इस प्रकार चंद ने युद्ध की स्थिति को परखते हुए पृथ्वीराज को संयोगिता के साथ दिल्ली भेज दिया। पृथ्वीराज ने दिल्ली पहुँचकर संयोगिता को अपने निवास में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया।

"महिलउ मंडन नृपति ग्रिह कनक कंति ललनानि।
तिहि उप्परि संजोगि नग धरि रष्षउ वर वानि।"(41)

अर्थात् महलों के आभूषण, पृथ्वीराज के निवास में कनक कांति वाली अनेक ललनाएँ थीं। पृथ्वीराज ने उन सारी ललनाओं के ऊपर श्रेष्ठ वर्ण वाली संयोगिता को रखा। संयोगिता का सौंदर्य अपूर्व था। वह अप्रतिम सौंदर्य की स्वामिनी थी। चंद ने अपने मुख से संयोगिता के सौंदर्य का वर्णन किया है।

"संजोगि जोवन जंबनं।
सुनि श्रवण दे गुरूराज नं।
तर चरण अरूणति अध्धन।
जनु श्रीय श्रीषंड लध्धन।
नष कुंद मिलिय सुभेसन।
अधर पक्क सु बिंबन।
सुक सालि आलिन षंडनं।
दसन सुत्ति सु नंदनं।

प्रतिभास मुद्दित वंदनं।
मधु मधुरया मधु सद्दया।
कल कंठ कोकिल वद्दया।"(42)

अर्थात् चंद ने राजगुरू से कहा कि संयोगिता का सौंदर्य कितना सुंदर है, उसे आप सुनें। संयोगिता के चरण-तल लालिमा से युक्त हैं। ये चरण तल ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो चंदन रोली लगा दी गई हो। उसके चरणों के नाखून सुंदर और अत्यन्त सटे हुए कुंद कमल के समान हैं। संयोगिता के अधर ऐसे प्रतीत होते हैं, मानों वे बिंब फल हों। कहीं ऐसा न हो कि शुक-सारिका उसे बिंब फल समझकर चोंच मार दे। संयोगिता के दाँत मोतियों के सदृश हैं, जो मोती के समान लाल मसूड़ों में पिरो दिए गए हैं। संयोगिता के शब्द मधु के समान मधुर हैं, वह बोलती है तो ऐसा लगता है मानो कोयल बोल रही है। पृथ्वीराज के साथ संयोगिता ऐसी प्रतीत होती है, मानो पृथ्वीराज कामदेव हों और संयोगिता उनके काम का वर्धन करने वाली हो। संयोगिता के इस नख-शिख सौंदर्य वर्णन में चंद ने परंपरागत उपमानों का प्रयोग किया है। संयोगिता के सौंदर्य हेतु चंद ने स्व कल्पना सर्जित नवीन उपमानों का प्रयोग नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है मानो संयोगिता के नख-शिख सौंदर्य वर्णन के माध्यम से चंद पृथ्वीराज के आगे की कथा की भूमिका बाँध रहे हों। नख-शिख वर्णन की अंतिम पंक्तियाँ इसी बात की ओर संकेत करती हैं जिसमें चंद ने कहा है कि संयोगिता का सारा सौंदर्य पृथ्वीराज के काम को वर्धित करने वाला है। जाहिर है, पृथ्वीराज संयोगिता के प्रेम में रत होकर दिन-रात भूल गए थे। पृथ्वीराज-संयोगिता के इस रति विलास के अंतर्गत ही चंद ने षड्ऋतुओं का वर्णन किया है। संयोगिता के प्रेममय जीवन में षड्ऋतुओं के विवरण में ग्रीष्म ऋतु का वर्णन चंद ने कुछ इस प्रकार किया है-

"दीहा दिव्य सदंग कोप अनिला आवर्त्त मित्ताकर।
रेन सेन दिसान थान मलिना गोमग्ग आडंबर।
नीरे नीर अपीन छीन छपया तपया तरूणया तनं।
मलया चंदन चंद मंद किरणा सु ग्रीष्म आसेचन।"(43)

अर्थात् संयोगिता पृथ्वीराज से कहती है कि इस गर्मी में दिन तपते लोहे के समान प्रतीत हो रहे हैं। हवा चलने की आवाज ऐसी लग रही है, मानो हवा कुपित हो सूर्य की किरणों से मिल कर बवंडर बन उठने लगी है। चारों ओर उठने वाले धूल ऐसे लगते हैं, मानों गायों के चलने पर उठे, उनके खुर से उत्पन्न, धूल ही बवंडर पैदा कर रही है। इस गर्मी में जहाँ भी पानी था वह कम हो गया है, रात्रि भी छोटी हो गई है। गर्मी अपनी तरूण अवस्था में है, तात्पर्य कि गर्मी अपने पूरे उठान पर है। ऐसी गर्मी में मुरझाते हुए प्राणों को केवल मलय समीर,

चंदन और चंद्रमा की मंद किरणें ही राहत दे सकती हैं। ग्रीष्म के वर्णन में संयोगिता पृथ्वीराज को लेकर क्या महसूस करती है अथवा अपने पति को लेकर इस ऋतु में उसके मन में कौन-कौन से भाव उत्पन्न हो रहे हैं, इसका उल्लेख चंद ने नहीं किया है। न उसने संयोगावस्था में ग्रीष्म ऋतु के कारण पड़ने वाले व्यवधानों का उल्लेख किया है और न ही इसका संकेत किया है कि नव युगल कि लिए, ऋतु चाहे कोई भी हो उनके प्रेम में व्यवधान नहीं पड़ता। आगे शीत ऋतु का वर्णन है-

"क्षीन वासर स्वास दीघ निसया शीतं जनेतं वने।
यउ बाला तरूणी निवृत्तपत्त नलिणी दीनान जीवा षिणो।
मा कांत हिमवंत मत्त गमने प्रमदा न आलंबने।"(44)

अर्थात् बस्तियों और वनों में शीत ऋतु का प्रभाव दिख रहा है, दिन श्वास के समान छोटा होने लगा है और रात बड़ी होने लगी है। तरूणी बाला शीत के कारण पत्रविहीन नलिनी के सदृश अत्यन्त दीन हो गई है। ऐसा लगता है मानो वह क्षण भर भी जीवित न रहेगी। हे स्वामी! मध्य हेमंत में प्रस्थान कर कहीं न जाओ क्योंकि यह सुंदर स्त्री (प्रमदा) दीन-हीन हो जाएगी। ग्रीष्म वर्णन के विपरीत यहाँ शीत के कारण प्रिय विहीन संयोगिता की दीन-दशा का वर्णन है, लेकिन यहाँ शीत के प्रकोप का प्रकृति पर पड़ने वाले प्रभाव का बिल्कुल अभाव है। कहने का तात्पर्य है कि रासो में संयोगिता की अवस्था और विविध ऋतुओं के विवरण में सामंजस्य स्थापित नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है मानो मात्र खानापूर्ति के लिए ही संयोगिता के संदर्भ में रासोकार ने षड्ऋतुओं का वर्णन किया है। बहरहाल संयोगिता के प्रेम में पृथ्वीराज इस कदर डूबे हुए थे कि उन्हें राजकाज की बिल्कुल सुध नहीं थी।

"इह विधि विलसि विलास असार सुसार किअ।
दइ सुष जोग संजोगि सोइ पृथिराज जिय।
अहनिसि सुध्धि न जानहि माननि प्रौढ़ रति।
गुरू बंधव भृत लोइ भई विपरीत गति।"(45)

अर्थात् समस्त विलासों को भोगकर पृथ्वीराज ने अपने सामर्थ्य शक्ति को भुला दिया था। तात्पर्य कि विलासों के अधीन होकर पृथ्वीराज ने अपनी शक्ति को बिसार दिया था। पृथ्वीराज का मन केवल संयोगिता के साथ केलि विलास में लग रहा था। संयोगिता की रति में पड़कर वह दिन-रात भूल चुका था। पृथ्वीराज को यह पता न चलता था कि कब दिन होता है, कब रात। पृथ्वीराज की ऐसी स्थिति देखकर उसके गुरू, बंधु-बांधव

और प्रजा उसके विपरीत होने लगे थे। कहने का तात्पर्य कि पृथ्वीराज संयोगिता के साथ रति में इस प्रकार डूब गया था कि उसे राजकाज की कोई सुध न थी।

शहाबुद्दीन गोरी के भावी आक्रमण और संभावित संकट को भाँप कर राजगुरू और चंद पृथ्वीराज के पास संयोगिता के महल जाते हैं, जहाँ संयोगिता और पृथ्वीराज का केलि विलास चल रहा था। राजगुरू और चंद ने पृथ्वीराज के पास संदेश भेजा कि –

"गज्जनेस आयेसु असंभु सह सेन सकल्लिअ।
दियो चार आदरू अनंद ढिल्लिय दिस मिल्लिअ।
दस हजार वारूणि विलास दस लष्ष तुरंगम।
तहि अनेय भर सुभर भौर गंभीर अभंगम।
अप्पज्ज वान चहुआन सुनि प्रान रषिक प्रारंभ करि।
सा मंत न ही सामंत करि जिनि बोलइ ढिल्लिय जुधरि।"(46)

अर्थात् शहाबुद्दीन की आज्ञा से उसकी समस्त सेना एकत्रित हो गई है। शहाबुद्दीन ने अपनी सेना का आदर किया है और सेना आदर से प्रसन्न होकर दिल्ली की ओर चल पड़ी है। उस सेना में दस हजार हाथी और दस लाख घोड़े हैं। उस सेना में अनेक वीर योद्धा और अमीर हैं, जो गंभीर तथा अविचलित रहने वाले हैं। हे चौहान! सुनो, बाण तो तुम्हारे अधीन हैं। यदि तुम और कुछ नहीं कर सकते हो तो अपने बाणों का प्रयोग करके ही अपने प्राणों की रक्षा करो। सामंत नहीं, तो भी ऐसा कोई भी काम मत करो जिससे दिल्ली की धरा डूब जाए। राजगुरू और चंद के तिरस्कार भरे स्वर को सुनकर पृथ्वीराज की तंद्रा टूटी। निश्चय ही ऐसी बातें किसी भी योद्धा को जागृत करने और कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर करने के लिए पर्याप्त थीं, फिर योद्धा यदि पृथ्वीराज हो तो...। पृथ्वीराज तुरंत अपना तुरीण धारण करता है और महल से निकलने को उन्मुख होता है।

"सुणि कग्गरू पिट्टउ सुकर धर रष्षइ गुर भट्ट।
तरकि तोन सजियउ स किरि जिमि वेष छंडि सू नट्ट।"(47)

अर्थात् पृथ्वीराज ने उस लेख को सुनकर अपना हाथ पीटा और कहा कि राज्य की रक्षा गुरू तथा भट्ट करें और मैं विलासरत रहूँ, ऐसा नहीं हो सकता है। पृथ्वीराज ने तुरंत केलि-विलास छोड़कर तूणीर धारण किया। उसे देखकर ऐसा प्रतीत हुआ मानो किसी सुनट ने अपना पहले का वेष छोड़कर नया वेष धारण कर लिया हो। इस पूरे घटनाक्रम के पश्चात् संयोगिता के व्यक्तित्व का एक ऐसा पहलू उभरकर सामने आता है जो

उसके पूर्ववर्ती व्यक्तित्व से मेल नहीं खाता। जो संयोगिता परिणय के पश्चात् पृथ्वीराज को अपनी ओर आता देखकर इसलिए निराश हो गई थी कि शत्रुओं को परास्त किए बिना उसका पति उसके पास क्यों आ रहा है, काम में दग्ध होते हुए भी जो संयोगिता चाहती थी कि पृथ्वीराज पहले अपने शत्रुओं का विनाश करे तब उसके पास आए। लेकिन अब वही संयोगिता वस्तुस्थिति को जानते हुए भी पृथ्वीराज को काम का प्रलोभन देकर भाँति-भाँति के उदाहरण प्रस्तुत कर उसे रोकना चाहती है –

"कहु सुप्रियह पउमिनिय कंत धन धरउ तउ न धन।
सुष सुष मार आरोहु असर संसार मरण मन।
दिन दिनियर दिन चंदु रयनि दिन दिन ही आवहि।
जंतु जंतु इह रमनि स्रवन लग्गवि समझावहि।
अरधंग हम अरधंगी अरधंग करि।
जस हंस हंस तह हंसनी सर सुक्कइ पंकजन परि।"(48)

अर्थात् अपने पति से संयोगिता ने कहा हे स्वामी रखा हुआ धन, धन नहीं होता। तात्पर्य कि यदि धन रखा रह जाए, समय पर खर्च न किया जाए तो वह किस काम का। वही सुख, असली सुख है जिसमें काम का उत्कर्ष हो। काम से रहित संसार मरण है। तात्पर्य कि काम सुख ही सच्चा सुख है और काम विहीन जीवन मरण के समान है। हर दिन सूर्योदय होता है, हर दिन चंद्रोदय होता है। इसी प्रकार रात और दिन भी हर दिन आते हैं, परंतु प्राणी एक दिन संसार से चला जाता है। तात्पर्य यह कि सूर्य और चंद्रमा, रात और दिन क्रमानुसार आते जाते हैं, इनकी सार्थकता तभी तक है जब तक मनुष्य का जीवन है। जीवन नहीं रहने पर इनका कोई महत्त्व नहीं है। संयोगिता पृथ्वीराज के कानों में कहती है कि यह पृथ्वी आपकी अर्द्धांगिनी है तो मैं भी आपकी अर्द्धांगिनी हूँ। मुझ अर्द्धांगिनी को आप अपना आधा अंग दान करें। कहने का आशय है कि यदि धरा के प्रति आपका कर्त्तव्य है तो मेरे प्रति भी आपका कर्त्तव्य है, मेरे प्रति आप अपने कर्त्तव्य का पालन कीजिए। जिस प्रकार हंस होता है उसी प्रकार हंसिनी भी होती है, दोनों जीवन भर साथ-साथ रहते हैं। तालाब सूखता है, तो कमल भी मुरझा जाता है अर्थात् तालाब और पंकज अंत तक साथ निभाते हैं। इस पद में संयोगिता येन केन प्रकारेण अपने पति पृथ्वीराज को रोकना चाहती है। यहाँ संयोगिता यह भूल जाती है कि उसका पति केवल उसका पति ही नहीं है, वह एक राजा भी है और उसे राजा के धर्म का पालन करना चाहिए। संयोगिता के अनुनय का उत्तर पृथ्वीराज निम्न शब्दों में देता है-

"सुनि प्रिय प्रिय दिष्यौ वदन किय जिय निर्भय पाथ।

वाहूं पुज्जउ वरह तुह कहिस मुध्ध रति नाथ।"(49)

अर्थात् संयोगिता की बातें सुनकर पृथ्वीराज ने अपनी प्रिया का मुख देखा और अपने हृदय को कठोर बना लिया। उसने संयोगिता से कहा, हे श्रेष्ठ स्त्री! तुमने मेरी भुजाओं की पूजा की है और अब वही तुम रतिनाथ अर्थात् काम की बातें कर रही हो। निश्चय ही पृथ्वीराज यहाँ संयोगिता को समझाना चाहता है कि तुम मेरे शौर्य और यश से प्रभावित होकर ही मेरी परिणिता बनी, अब तुम वौ कैसे भूल गई।

संयोगिता के रूप में हमें एक ऐसी स्त्री के दर्शन होते हैं जो मनुष्य की तमाम विशेषताओं और दुर्बलताओं का मिश्रण है। एक ओर संयोगिता में अद्भुत संकल्प शक्ति है तो दूसरी ओर पति के बिना अस्तित्वविहीन हो जाने का भयानक डर, एक ओर काम पर ऐसी विजय है कि पृथ्वीराज के बिना जीवनभर कुँवारी रहने का संकल्प लेती है, तो दूसरी ओर काम के इतने अधीन कि पति को कर्त्तव्य पथ पर बढ़ने से भी रोक देना चाहती है, एक ओर पति को पिता से युद्ध के लिए प्रेरित करती है तो दूसरी ओर पति को उसके परम शत्रु शहाबुद्दीन के साथ युद्ध से विमुख करने का प्रयास करती है। इस प्रकार पुत्री और पत्नी से अलग संयोगिता का अपना एक अलग व्यक्तित्व है।

राजकुमारी संयोगिता बाहर से जितनी सुन्दर थी उतनी ही भीतर से भी। रूप और अपरूप का ऐसा अनूठा संयोग कम नारियों में दिखलाई पड़ता है। वह एक गजगामिनी है, केहरि कट वाली, मांसल औप पुष्ट तथा शिरोदेश पर श्याम वर्ण के उरोजों वाली चन्द्रबदनी, कीर नासिका, मृगनयनी, धनुषाकार भृकुटियों और घनी बरौनियों वाली, कृष्ण कुंतलों वाली सुन्दरि थी। वह मन और हृदय से भी सुन्दर थी तभी पिता की इच्छा के विपरीत पृथ्वीराज का वरण कर चुकी थी। पृथ्वीराज की प्राप्ति के लिए वह बंदिनी भी बन चुकी थी।

सौतिया डाह का वर्णन भी कवि ने इंच्छिनी का संयोगिता के प्रति दिखलाया है। कवि ने चित्रित किया है कि –

"पित्र घात सो मन मिलै, और बैर मिट जाइ।
सौत बैर अंतर जलनि, दिन प्रति ग्रीषम लाइ।।
मुष मिट्ठी बित्ता करै, मन में देत सराप।
बंटै प्रेम सु प्रिय कौ, अंतर दझझे आप।।"(50)

आदिकालीन रचनाओं में ऋतु वर्णन का अवसर कवि ढूँढ लेता है। पृथ्वीराज रासो में भी जब पृथ्वीराज कन्नौज जाने के लिए आज्ञा माँगने हेतु अपनी रानियों के पास एक-एक करके जाता है, उस समय को कवि ने

ऋतु वर्णन के माध्यम से बड़े ही सुन्दर ढ़ंग से प्रस्तुत किया है। सबसे पहले पृथ्वीराज रानी इंच्छिनी के पास जाता है तथा कन्नौज जाने की अनुमति माँगते हुए कहता है –

"पुच्छि गयौ कवि चंद कों, इंछिनी महल नरिंद।
सुन्दरि दिसि कनवज्ज कौ, चलै कहै घर-इंद।।"(51)

कवि चंद से सम्मति लेकर, रानी इंच्छिनी के महल में पृथ्वीराज ने प्रवेश किया और कहा – हे सुन्दरी! इस पृथ्वी का राजा अर्थात् पृथ्वीराज तुमसे कन्नौज जाने की अनुमति चाहता है। पृथ्वीराज को दूर जाने से रोकने के लिए इंच्छिनी जवाब देते हुए कहती है –

"इन रिति सुन चहुआन वर, चलन कहै जिन जीउ।
हों जानू पहिलै चलै, प्रान प्रयान की पीउ।।"(52)

हे श्रेष्ठ चौहान! इस बसंत ऋतु में आपको बिदाई देने के लिए जी नहीं चाहता है। मैं समझती हूँ कि आपके कन्नौज प्रस्थान के पूर्व ही मेरे प्राण चले जाएंगे। वह बसन्त ऋतु की सुन्दरता तथा स्त्रियों पर उसके पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन करती हुई कहती है –

"मवरि अंब फुल्लिग कदंब, रयनिय दिघ दीसं।
भवर भाव – भुल्लै भ्रमंत, सकरंदव सीसं।।
वहत बाउ उझ्झलति मौर, अति विरह अगनिकिय।
कुहकुहंत कलकंठ, पत्त – राखस रति अत्तिय।।
पय-लग्गि प्रान पति वीनवों, नाह नेह मुझ चित धरहु।
दिन-दिन अवद्धि जुब्बन घटय, कंत बसंत न गम करहु।।"(53)

आम के वृक्षों पर आम्र मंजरी खिले हुए हैं, कदंबों की श्यामलता इतनी बढ़ गई है मानो काली यामिनी हो, मकरंद के वशीभूत होकर भ्रमर बेसुध होकर भ्रमण कर रहे हैं, पवन के बहने से मंजरियाँ इधर-उधर डोल रही हैं जिससे विरह प्रज्जवलित होता है, कोयलें कूक रही हैं और चन्द्रमा भी दाम्पत्य प्रेम को वृद्धि दे रहा है। इसीलिए हे प्राणनाथ! मैं आपसे चरण छूकर विनय करती हूँ कि मेरे विशेष स्नेह को अपने हृदय में स्थान दीजिए, क्योंकि यौवन की अवधि दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही है। हे स्वामी! बसन्त में गमन मत कीजिए।

इच्छनी की बात मानकर पृथ्वीराज बसन्त ऋतु उसके महल में व्यतीत करता है। बसन्त ऋतु रानी इंच्छिनी के महल में व्यतीत करने के पश्चात् वह रानी पुण्डीरनी के महल में जाता है और उससे कन्नौज जाने की अनुमति माँगता है। ग्रीष्म की भीषण प्रचण्डता का हवाला देकर रानी पुंडीरनी उसे रुकने के लिए आग्रह करती है।

"खिन तरुनी तन तपै, वहै नित बाव रयन दिन।
दिसि च्यारों परजलै, नहीं कहुँ सीत अरध खिन।।
जल जलंत पीवंत, रुहिर निसि वासनि घट्टे।
कठिन पंथ काया कलेस, दिन रयनि सु घट्टै।।
त्रिय लहै तत्त अक्खर कहै, गुनियन ग्रब्ब न मंडियै।
सुनि कंत सुमति संपति विपति, ग्रीखम ग्रेह न छंडियै।।"(54)

वह कहती है, जिन स्त्रियों के पति विदेश में हैं, वे शरीर से संतप्त होकर खिन्न हो जाती हैं, पवन रात-दिन चल रहा है। चारों दिशाएँ जलती हुई सी दिखाई दे रही हैं। पल भर के लिए भी कहीं शीतलता दिखाई नहीं देती। उबलता हुआ जल पीने को मिलता है, गर्मी के कारण खून भी सूख रहा है और रास्ते चलने में लोगों को रात-दिन भयंकर कष्ट का सामना करना पड़ता है। यही सोच समझकर मैं आपको तत्व युक्त बात कहती हूँ कि आप गुणी जनों अर्थात् चन्द आदि के गर्व में मुझे मत भूलिए। वह आगे कहती है, हे प्यारे! सुमति के साथ ही सम्पत्ति है, अन्यता विपत्ति से सामना करना पड़ता है। अतः आप ग्रीष्म काल में घर न छोड़ें, यही मेरी प्रार्थना है। पुण्डीरनी रूप गर्विता स्त्री है, उसके वचनों को मानकर पृथ्वीराज उसके वहाँ रुकने को तैयार होता है। ग्रीष्म ऋतु पुण्डीरनी रानी के महल में व्यतीत करने के पश्चात् वह उससे अनुमति लेकर रानी इन्द्रावती के महल में जाता है।

इसी प्रकार छः ऋतु और बाहर मास रानियों से अनुमति लेने में व्यतीत हो जाता है। कवि ने ऋतु वर्णन में कहीं भी अत्युक्ति का सहारा नहीं लिया है। इसके माध्यम से कवि ने स्त्री हृदय की व्यथा को बहुत ही मार्मिक ढ़ंग से प्रस्तुत किया है। उस समय में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी और उस पर भी अगर वह राजा है तो यह आम बात होगी कि उसके महल में एक से अधिक रानियाँ हों। पृथ्वीराज रासो में भी एक महल में कई रानियों के होने से उनमें सौतिया डाह होना स्वाभाविक है। कवि कहता है –

"पित्र घात सों मन मिलै, और बैर मिट जाय।
सौंति बैर अंतर जलनि, दिन प्रति ग्रीषम लाय।।"(55)

अर्थात् पितृ घातक से मिलना और अन्य प्रकार की शत्रुता का भी मिट जाना सम्भव है परन्तु सौत बैर की आंतरिक जलन ग्रीष्म ज्वाला के समान प्रतिदिन वृद्धि को ही प्राप्त होती रहती है। उस समय सब स्त्रियों में प्रतिस्पर्धा होने लगी। स्वयं को दूसरे से श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए संयोगिता सब रानियों को अपने महल में एकत्रित करती है।

"एक दिवस संजोगि ग्रह, मनमानिय सब सौति।
आनि सुक्ख प्रगटन मछर, अधिक सवतनि होति।।"(56)

एक दिन संयोगिता ने सब रानियों को अपने महल में आमंत्रित किया। सबको एकत्रित करने का कारण था कि वह अपना सुख वैभव और उमंग उन पर प्रगट कर स्वयं को उनसे विशेष बताना चाहती थी। ऐसे में स्त्री जलन स्वाभाविक है। कवि कहता है –

"सौति सुहागिलि सुक्ख दिखि, लग्गै नैन अंगार।
ज्यों ज्यों वह छंदा करे, त्यों त्यों करवत धार।।"(57)

अर्थात् संयोगिता के सुख को देखने से अन्य रानियों के नेत्रों में अंगारे जलने लगे और वह ज्यों-ज्यों नखरे करती त्यों-त्यों दूसरी रानियों के हृदय में करवतें चलने लगीं। संसार में एक स्त्री दूसरी स्त्री से अपना सब कुछ बाँट सकती है, परन्तु पति का प्रेम वह किसी से बाँटने के लिए तैयार नहीं होती। उससे ज्यादा संसार में उसके लिए दुःखदायी और कुछ नहीं होता है।

"धन ग्रह बंटन मुत्ति नग, हेम पटंबर सार।
पुनि त्रिय प्रिय बंटन सुरति, लगै अधिक खग धार।।"(58)

अर्थात् द्रव्य, घर, मोती, नग, स्वर्ण, रेशमी वस्त्र और शस्त्र बाँटने में दुःख नहीं होता, किंतु स्त्रियों को पति के प्रेम की हिस्सेदारी खड्ग की धार से भी अधिक घातक लगती है।

आधुनिक काल की स्त्री लेखिकाओं ने भी सपत्नी के बीच होने वाले खट्टे-मिले रिश्ते को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। अनामिका कहती हैं –

"झरोखे से झाँक रही,
मेरा जिया जाने।
राजाजी आए, लाए सौतिनिया,
मैं दुल्हन-सी लाग रही, मेरो जिया जाने।"(59)

रासो काव्य प्रमुखतः पृथ्वीराज के युद्ध तथा विजयगान का ग्रन्थ है। उस समय समाज में स्त्रियों को मात्र अलंकार के रूप में देखा जाता था। उनको वह सम्मान नहीं मिलता था जो उन्हें मिलना चाहिए तथा पति से अलग उनका स्वयं कोई अस्तित्व नहीं था। सती प्रथा, बहुविवाह जैसी कुप्रथाएँ प्रचलित थीं। ऐसे में रासो के स्त्री पात्र संयोगिता, इंच्छिनी, पद्मावती, चन्द्रावती तथा अन्य अपना अलग ही रूप प्रदर्शित करती हैं। प्रेम के लिए दृढ़ निश्चय होना तथा उसके लिए अपने प्राणों की भी परवाह न करना, उनके द्वारा उस समाज को दी जाने वाली चुनौति के रूप में देखा जा सकता है। वे स्त्रियाँ किसी अन्य स्त्री के लिए खड़ी नहीं होतीं, परन्तु उस समाज में स्वयं के लिए भी निर्णय लेना उनके बोल्ड चरित्र को प्रदर्शित करता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ –

1. वर्मा, महादेवी, श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली2008, पृष्ठ संख्या-329
2. सं. द्विवेदी, हजारीप्रसाद तथा डॉ. सिंह, नामवर, संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या-194
3. वही, पृष्ठ संख्या-185-186
4. वही, पृष्ठ संख्या-131
5. वही, पृष्ठ संख्या-131
6. वही, पृष्ठ संख्या-131
7. वही, पृष्ठ संख्या-132
8. वही, पृष्ठ संख्या-134
9. वही, पृष्ठ संख्या-139
10. वही, पृष्ठ संख्या-157
11. वही, पृष्ठ संख्या-125-126
12. वही, पृष्ठ संख्या-126
13. वही, पृष्ठ संख्या-129
14. वही, पृष्ठ संख्या-130
15. वही, पृष्ठ संख्या-120
16. वही, पृष्ठ संख्या-116
17. वही, पृष्ठ संख्या-117
18. वही, पृष्ठ संख्या-117
19. वही, पृष्ठ संख्या-118
20. वही, पृष्ठ संख्या-145
21. वही, पृष्ठ संख्या-159
22. वही, पृष्ठ संख्या-149

23. वही, पृष्ठ संख्या-144
24. वही, पृष्ठ संख्या-190
25. वही, पृष्ठ संख्या-191
26. वही, पृष्ठ संख्या-134
27. वही, पृष्ठ संख्या-154
28. वही, पृष्ठ संख्या-155
29. वही, पृष्ठ संख्या-160
30. वही, पृष्ठ संख्या-161
31. वही, पृष्ठ संख्या-162
32. वही, पृष्ठ संख्या-165
33. वही, पृष्ठ संख्या-166
34. वही, पृष्ठ संख्या-156
35. वही, पृष्ठ संख्या-144
36. वही, पृष्ठ संख्या-146
37. वही, पृष्ठ संख्या-148
38. वही, पृष्ठ संख्या-192
39. वही, पृष्ठ संख्या-194
40. वही, पृष्ठ संख्या-196
41. वही, पृष्ठ संख्या-200
42. वही, पृष्ठ संख्या-140
43. वही, पृष्ठ संख्या-145
44. वही, पृष्ठ संख्या-155
45. वही, पृष्ठ संख्या-158
46. वही, पृष्ठ संख्या-158

47. वही, पृष्ठ संख्या-162

48. वही, पृष्ठ संख्या-163

49. वही, पृष्ठ संख्या-165

50. वही, पृष्ठ संख्या-141

51. सं. मोहनसिंह, कविराव, पृथ्वीराज रासो, साहित्य संस्थान, उदयपुर (राजस्थान), प्रथम संस्करण, 2012, पृष्ठ संख्या-567

52. वही, पृष्ठ संख्या-567

53. वही, पृष्ठ संख्या-569

54. वही, पृष्ठ संख्या-573

55. वही, पृष्ठ संख्या-865

56. वही, पृष्ठ संख्या-865

57. वही, पृष्ठ संख्या-866

58. वही, पृष्ठ संख्या-866

59. अनामिका, स्त्री-विमर्श की उत्तर-गाथा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या-45

तृतीय अध्याय

बीसलदेव रासो की राजमती और आधुनिक स्त्री चेतना

नर-नारी सम्बन्धों का आधार, प्रतिष्ठा की समानता और मानवीय प्रेम होना चाहिए। दोनों में कोई छोटा या बड़ा नहीं है बल्कि दोनों एक-दूसरे के सहयोगी हैं। नारी की श्रेष्ठता एवं स्त्री-पुरुष की पूरकता की विवेचना करते हुए, डॉ. वल्लभदास तिवारी ने लिखा है, "पुरुष सत्यम् है, प्रकृति शिवम् और सुन्दरम् है, अतः स्पष्ट है कि प्राणीमात्र के जीवन में नारी की भूमिका पुरुष की अपेक्षा दोहरी है। प्रकृति पुरुष की चित्तवृत्तियों की संचालिका है। वह विराट शक्ति की शाश्वत प्रेरणा स्रोत है, वह उसका उद्भव है।"(1)

आदिकालीन हिन्दी साहित्य भारतीय संस्कृति तथा इतिहास में जहाँ साहित्यिक सम्पदा और उसकी प्रामाणिकता की संदिग्धता के कारण अन्धकार काल है, वहीं विविध विचारधाराओं, धर्मों और आस्थाओं की उपस्थिति के कारण, यह संक्रमण काल है। इनके सामाजिक, धार्मिक और आस्थागत मतों में जहाँ भिन्नता है, वहीं नारियों को लेकर व्यंजित मतों में प्रायः अभिन्नता है। नारियों के प्रति इन सभी धाराओं और विचारधाराओं के आग्रहों में आंशिक अन्तर है।

जिस समय बीसलदेव रासो की रचना हुई, उस समाज में वर्ण व्यवस्था पूर्णतः वर्तमान थी। बीसलदेव रासो में इसका वर्णन प्रच्छन्न रूप में हुआ है। उस समय समाज में गरीब तथा धनी वर्ग विद्यमान था, परन्तु किसी को विशेष कष्ट का सामना नहीं करना पड़ता था। स्त्रियाँ पूजा-पाठ आदि में विशेष रुचि रखती थीं। विवाह आदि के समय गाए जाने वाले मांगलिक गीतों से स्त्रियाँ अपना मनोरंजन करती थीं। विवाह के समय ब्राह्मण, लगन, सुपारी आदि का विशेष महत्त्व था, इसका उल्लेख बीसलदेव रासो में भी देखा जा सकता है –

"बंभणा भाट बोलाविया राउ।
लगन सोपारीय दीन्ही पठाइ।
गढ अजमेरी नइ गम करउ।
पाटि वइसारि पषालिज्यो पाय।
बेटी कहिज्यो राजा भोज की।
राजमती बर बीसल राय।।"(2)

विवाह के समय परिवार की श्रेष्ठता पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। उच्च कुल की कन्याओं के लिए समान स्तर वाले वर की खोज की जाती थी। बीसलदेव रासो में इसका उल्लेख मिलता है –

"गढ अजमेरी बसइ रे भुआल।
चहुआणां कुलि तिलक सिणगार।

कुलीय छत्तीसइ रे ऊलगइ।

मइमत हस्तीय पडइ रे पलाण।

लाष तुरीय घरि पाषर्या।

बर रे आणउ बीसलदे चहुँआण।।"(3)

जिस प्रकार से आधुनिक युग में हिन्दू विवाह के समय नाना प्रकार के मांगलिक विधि विधान किए जाते हैं, उसी प्रकार से बीसलदेव रासो में भी वैवाहिक अनुष्ठानों का उल्लेख मिलता है। वैदिक मन्त्रों का उच्चारण बीसलदेव के विवाह के समय विशेष रूप से सुनी जा सकती है –

"देव बाघेरडइ दीयउ रे मेल्हाण।

ऊचरइ बंभण बेद पुराण।

मंगल गावइ कामणी।

पंच सबद कउ रुणझुणकार।

मेघाडंबर सिरि छत्र धर्यउ।

सुबस सिद्धारथ सयल संसारि।।"(4)

आदिकालीन साहित्य में बीसलदेव रासो एक विरहगीत काव्य है। इसमें राजा भोज की पुत्री राजमती का स्वाभिमानी होना चित्रित किया गया है। राजा और रानी अर्थात् बीसलदेव और राजमती दोनों में सामंती अहं है। राजा ने गर्वोक्ति की कि उसके समान धनी राजा दूसरा नहीं है। राजा की इस गर्वोक्ति को सुनकर रानी से रहा नहीं गया और वह बोली कि तुमसे धनी तो उड़ीसा का राजा है। तुम्हारी खान से तो नमक निकलता है, उसकी खान से हीरे-पन्ने। रानी की उक्ति राजा के सामंती स्वभाव को अखर गई और वह रानी से रुठकर हीरे-जवाहरात लाने के लिए उड़ीसा की ओर प्रस्थान करता है। तत्पश्चात् सामंती पुरुष सत्ता की बेरुखी में पली विरहिता वियोग में विकल हो उठी और वह इस लोक में पुरुष प्रभु के समक्ष स्त्रीत्व की स्थिति को लेकर परलोक प्रभु से संवाद की स्थिति बनाकर अपनी सामंती श्रृंखलाबद्ध समाज में परतंत्रता की बात कहती है। वह कहती है, "सामन्ती कौलिन्य की परतंत्रता से मुक्त होकर पति का संग-साथ, उसके साथ काम करने का सुख कितना आनन्दमय होता है। कर्ममय जीवन में स्पर्शानुभूति और बतरस के सुख का क्या कहना।"(5) "सामंती जीवन के

प्रति गहरी वितृष्णा का सजीव चित्रण इस काव्य में मिलता है।"(6) रासो में जहाँ नारी के सामंती रूप का वर्णन है, वहीं नारी गरिमा का अभिव्यंजन भी।

राजमती की कही गई उक्ति से रुष्ट होकर बीसलदेव का विदेश जाने का मूल कारण यह जान पड़ता है कि उस समय स्त्रियों का समाज में कोई विशेष स्थान नहीं था, इसीलिए उसके अनुनय विनय करने के पश्चात् भी बीसलदेव नहीं मानता और चला जाता है।

बीसलदेव तथा राजमती की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का मानना है कि बीसलदेव से एक सौ वर्ष पहले ही धार के प्रसिद्ध परमार राजा भोज का देहान्त हो चुका था। अतः उनकी कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह किसी पीछे के कवि की कल्पना ही प्रतीत होती है। उस समय मालवा में भोज नाम का कोई राजा नहीं था। बीसलदेव की एक परमार वंश की रानी थी, यह बात परंपरा से अवश्य प्रसिद्ध चली आती थी क्योंकि इसका उल्लेख पृथ्वीराज रासो में भी है। इसी बात को लेकर पुस्तक में भोज का नाम रखा हुआ जान पड़ता है अथवा यह हो सकता है कि धार के परमारों की उपाधि ही भोज रही हो और उस आधार पर इन्हीं में से किसी की कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह हुआ हो।

विभिन्न विद्वानों ने इसकी ऐतिहासिकता पर अपने-अपने मत प्रकट किए हैं परन्तु किसी ने इसे पूर्णतः अनैतिहासिक नहीं माना है। इसमें ऐतिहासिकता के कुछ अंश हैं, परन्तु कविता कल्पना का पुट लिए होती है इसलिए उसे पूर्णतः ऐतिहासिकता की कसौटी पर कसकर उसे अनैतिहासिक सिद्ध करना सही प्रतीत नहीं होता क्योंकि कविता कवि की कल्पनाशीलता और रचनाशीलता का प्रमाण होती है न कि इतिहास का।

कथा का नायक बीसलदेव है और उसकी नायिका राजमति है, किन्तु यह रचना नायक-प्रधान न होकर वस्तुतः नायिका प्रधान है। कवि ने इसी नायिका के व्यक्तित्व को भली-भाँति उभारा है और निःसंदेह अपने कुछ विशिष्ट गुणों के कारण वह हिन्दी साहित्य का एक सर्वप्रिय चरित्र बन गई है।

बीसलदेव रासो की नायिका राजमती भारतीय नारियों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। स्त्रियोचित सभी गुण उसमें विद्यमान हैं। राजमती मात्र एक राजा की पुत्री और एक दूसरे प्रभावशाली राजा की पत्नी ही नहीं है बल्कि वह एक निडर तथा मुखर स्त्री भी है। राजमती के व्यक्तित्व में कई ऐसे पहलू हैं, जो हमें विस्मय में डाल देते हैं। राजमती का आत्मविश्वास, स्वयं के प्रति सजगता और परिस्थितियों को परखने की तीक्ष्ण बुद्धि उसके व्यक्तित्व को, मध्ययुगीन समाज का अतिक्रमण करते हुए, अत्यन्त प्रासंगिक और समसामयिक बनाते हैं। इसके साथ ही राजमती में स्त्री से जुड़े वे सारे संस्कार भी हैं जो उसे परंपरागत भारतीय नारी के चारदीवारी से बाहर नहीं निकलने देते। लेकिन इस परंपरागत चारदीवारी के भीतर राजमती सिर्फ

किसी की पत्नी अथवा पुत्री ही नहीं है, बल्कि उसका अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व भी है जिसकी झलक आज भी दिखाई पड़ती है।

राजमती के व्यक्तित्व में स्वयं के प्रति सजगता हमें रचना के प्रारंभ से लेकर अंत तक दिखाई देती है। प्रारंभ में ही विवाहोपरांत जब बीसलदेव स्वयं अपनी प्रशंसा करता है और कहता है कि उसके सदृश कोई राजा नहीं तभी राजमती अपने अनुभव के आधार पर प्रतिवाद करती है।

"गरब करि बोलियउ सइंभरि वाल।
मो सारिषउ नहीं अवर भूआल।
म्हा घरि सइंभरि उग्रहइ।
चिहुं दिसइं थांणा रे जेसलमेर।
लाख तुरीया पाषर पडइ।
गोरी राजकउ बइसणउ गढ अजमेरि।
गरब म करि हो सइंभरि वाल।
तो सरिषा अवर धणा रे भूआल।
एक उड़ीसा कउ धणी।
वचन दुइ म्हांका माणि म माणि,
जिउं थारइ सइंभरि उग्रहइ।
तिउं आं घरि उग्रहइ हीराकई षांणि।"(7)

बीसलदेव गर्व करते हुए राजमती से कहता है, मेरे समान दूसरा राजा नहीं है। मेरे राज्य में नमक निकलता है, चारों ओर जैसलमेर का थाना है, एक लाख घोड़े हैं और मैं अजमेर गढ़ में शासन करता हूँ। इसका उत्तर देते हुए राजमती बीसलदेव से कहती है - हे राजा! तुम अपने पर गर्व न करो, तुम्हारे सदृश बहुत सारे राजा हैं। तुम मेरा वचन मानो चाहे न मानो एक तो उड़ीसा का राजा है। जिस प्रकार तुम्हारे राज्य में नमक की खानें हैं उसी प्रकार उसके राज्य में हीरे की खानें हैं।

"गरब म करि हो सइंभरि वाल।
तो सरिषा अवर घणा रे भूआल।
एक उड़ीसा कउ धणी।

वचन दुइ म्हांका माणि म माणि।

जिउं थारइ सइंभरि उग्रहइ।

तिउं आं घरि उग्रहइ हीराकइ षांणि।।"(8)

इस पूरे प्रसंग में हमें राजमती के गुणों के बारे में पता चलता है। उसे आस-पास के स्थानों और उस स्थान की विशेषताओं का अच्छा ज्ञान था। राजमती के वक्तव्य से पता चलता है कि वह किसी की झूठी डींगों को बर्दाश्त नहीं करती है तथा उसका प्रत्युत्तर देती है। उसे ऐसे ही भ्रमित नहीं किया जा सकता। लेकिन तुरंत ही उसे यह भान हो जाता है कि उसके पति बीसलदेव को उसकी कही गई बातें अच्छी नहीं लगी। वह परिस्थिति को देखते हुए बात को संभालने की कोशिश करती है तथा उड़ीसा के संदर्भ में आगे कहती है –

"हिरणी मरणि समरयउ जगन्नाथ।

आइ पहूतलउ त्रिभुवन नाथ।

संष रे चक्र गदाधरो।

मांगि हे हिरणी मनह विचारि।

जई तूं तूठउ त्रिभुवनध्वणी।

स्वामी पूरब देसकउ जनम निवारी।

पूरब देसकउ कुच्छनउ लोग।

पान फूलांतणउ नवि लहइ भोग।

कण संचइ कूकस भषइ।

अति चतुराई गढ ग्वालेरी।

कामणी जेसलमेररी।

स्वामी पुरुष भला अछइ गढ अजमेरि।।"(9)

राजमती कहती है यदि तुम पूछते हो तो सुनो पूर्व जन्म में मैं हिरणी थी, हिरणी के रूप में मैंने जगन्नाथ स्वामी से वर मांगा कि हे! त्रिभुवन पति! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो पुनः मुझे पूर्व देश में जन्म न दें। पूर्व देश के लोग घृणित होते हैं। पान-फूल उनके भोजन में शामिल नहीं होता है। वे चावल को तो संचित करते हैं और उसकी भूसी खाते हैं जबकि चतुर लोग ग्वालियर में होते हैं। रूपवती कामिनी स्त्रियाँ जैसलमेर में होती हैं और

रूपवान सुन्दर पुरुष अजमेर में होते हैं। राजमती कहती है, हे स्वामी! इसीलिए मैंने अपना अगला जन्म मारवाड़ देश में मांगा और राजकुमारी होना मांगा। द्रष्टव्य है कि राजमती ये सब बातें बीसलदेव को खुश करने के लिए कहती है। लेकिन बीसलदेव राजमती की इन बातों से संतुष्ट नहीं हुआ। बीसलदेव उड़ीसा जाकर चाकरी करने की जिद पर डटा रहता है।

राजमती की इन सब बातों का बीसलदेव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह अपनी बात से हटने को तैयार नहीं है। राजमती की कही गई बात को वह अपनी प्रतिष्ठा पर ले लेता है तथा राजमती के किसी प्रकार समझाने पर भी वह तैयार नहीं होता।

"म्हें विसराह्या गोरडी।
मइ तइं बरस बारहकी काणि।
ऊलग कइ मिसि गम करउं।
जिउं घरे आवइ हीरा की षांणि।।"(10)

बीसलदेव कहता है, हे गोरी! तुमने मेरी निंदा की है। मुझे और तुम्हे एक-दूसरे से अलग रहने के लिए बारह वर्ष का शपथ है। मैं सेवा के बहाने जाता हूँ जिससे हीरे की खान मेरे घर में भी आ जाए। राजमती यहाँ बात को पुनः बिगड़ता देखकर उसे संभालने की पूरी कोशिश करती है। 'चाकरी' (ऊलग) शब्द को लेकर वह राजा को बताना चाहती है कि तुम राजा हो और राजा चाकरी नहीं करते हैं।

"ऊलग जाण कहइ धणी कउण।
घर माहे वरउ नहीं कूल्हडइ लूण।
घरि अकुलीणीय रे कलि करइ।
रिण का चंपिया घर न सुहाइ।
कइ रे जोगी हुई नीसरइ।
कइ मुहडउ लेइ नइ ऊलग जाइ।"(11)

राजमती कहती है, हे स्वामी! सुनो (ऊलग) चाकरी पर जाने के लिए वही व्यक्ति कहता है जिसके घर के कुल्हण में नमक तक नहीं होता, या जिसके घर में अकुलीन स्त्री क्लेश करती है, या जिस व्यक्ति को ऋण के बोझ तले दबे हुए होने के कारण अपना घर नहीं अच्छा लगता, या जो व्यक्ति योगी होकर अपने घर से निकल पड़ता

है - यही लोग चाकरी के लिए जाते हैं। इतने पर भी बीसलदेव अपने निर्णय से नहीं हटता। अब राजमती को संन्यास लेने अथवा जान दे देने की धमकी के अलावा अन्य कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। राजमती बीसलदेव को रोकने के लिए इस हथियार को भी आजमा लेना चाहती थी। उसने बीसलदेव से कहा –

"मइ छंडी हो स्वामी थारी आस।
जोगिणि होई सेवउं बनबास।
कइ तप तंपु बाणात्सी।
कइ तउ परबत चडउं केदार।
कइ रे हिमालइ माहिं गिलउं।
कइ तउ झंफद्यउं गंग दुवारि।"(12)

राजमती ने कहा, हे स्वामी! अब मैंने तुम्हारी आशा छोड़ दी है। अब मैं योगिनी होकर वनवास करुँगी, या तो वाराणसी में तप करुँगी, नहीं तो केदार पर्वत पर चढ़ूँगी या फिर हिमालय में जाकर गल जाऊँगी या फिर गंगा जहाँ से निकलती है वहाँ कूद पड़ूँगी। वह बीसलदेव को उलाहने देते हुए कहती है –

"छंडी हो स्वामी म्हे थारी हो आस।
मइला हो थारउ किसउ बेसास।
बांदी करि धणि नवि गिणी।
म्हाकी सगा सुणीजा मांहे लोपी छै माम।
जीवत डी मूयां बडइ।
बालुं हो धणी तुम्हारडा दाम।"(13)

हे स्वामी! मैंने अब तुम्हारी आशा छोड़ दी है, तुम हृदय से मलिन हो गए हो, अब मैं तुम्हारा विश्वास कैसे करूँ। तुमने अपनी पत्नी को दासी के समान भी नहीं समझा। तुमने सगे सम्बन्धियों के बीच मेरे सम्मान को समाप्त कर दिया। मेरे लिए इस प्रकार जीवित रहने से अच्छी मृत्यु है। बीसलदेव किसी भी प्रकार से राजमती की बात को मानने के लिए तैयार नहीं होता। उसे राजमती द्वारा कही गई बात अपने झूठे दंभ पर आघात लगता है। वह राजमती से कहता है –

"कडुवा बोल न बोलि हे नारि।

मइ तुम्हे मेल्हीय हे चितह बिसारि।

जीभ नवी नहु नीकलइ।

दवका दाधा हो कूपल लेइ।

जीभका दाधा न पाल्हवइ।

नाल्ह भणइ सुणिज्यो सहु कोइ।।"(14)

हे नारी! कड़वी बातें मत बोलो। मैंने तुम्हें चित्त से विस्मृत कर दिया है। जिह्वा पुनः नई नहीं निकलती है। दावाग्नि से जला हुआ वृक्ष भी कुछ समय पश्चात् नवीन पत्ते लेता है, परन्तु जिह्वा से जला मनुष्य कभी पल्लवित नहीं होता है। इसी प्रकार कवि भी कहता है कि यह बात सब लोग सुन लें।

राजमती बीसलदेव को रोकने के सारे उपाय करके देख लेती है, लेकिन उसे सफलता नहीं मिलती। बीसलदेव अपनी जिद कहाँ छोड़ने वाला था। सभी उपायों को इस प्रकार नाकाम होते देखकर राजमती अब लगभग हथियार डालती हुई कहती है –

"साधण बोलइ सुणि रावका पूत।

ऊलग जाण कउ परउ कुसूत।

बेटी ब्याही राजा भोज की।

सोलहउ सोनउ काइं करइ छार।

मरण जीवण स्वामी पग तलइ।

कनक कचोलइ उरि धरइ भार।

हेडाउ का तुरिय जिउं।

हाथ न फेरइ सउ सउ बार।"(15)

राजमती बीसलदेव से कहती है, हे राजपुत्र! सुनो, तुम चाकरी के लिए जा तो रहे हो परंतु उसमें बड़ी कठिनाईयाँ होती हैं। तुमने राजा भोज की कन्या से विवाह किया है। मैं अर्थात् राजा भोज की कन्या सोलह वर्ण सोने के समान खरी हूँ, मुझे राख के समान तुच्छ क्यों बना रहे हो। हे स्वामी! मेरा जीवन-मरण अब तुम्हारे चरणों में है। अब तक तुमने मेरे स्वर्ण के समान कुचों का भार अपने हृदय पर धारण किया है लेकिन अब मुझे

तुम लेंहड़ी के घोड़ों की भाँति उपेक्षित क्यों कर रहे हो। लेहड़ी के उन घोड़ों की भाँति जिस पर व्यापारी सौ-सौ दिनों तक हाथ नहीं फेरता है।

बीसलदेव रासो में स्त्रियों का जिस प्रकार से वर्णन हुआ है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्त्रियाँ एक पीड़ित नारी को देखकर उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करती हैं और अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण कष्ट देने वाले को उचित-अनुचित का विचार किए बिना ही दोषी ठहराती हैं। राजमती बीसलदेव के जाने के पश्चात् जब वियोगावस्था में रहती है, उस समय स्त्रियाँ उसे घेर कर बैठ जाती हैं और उसे सान्त्वना देती हुई बीसलदेव को कोसती हैं –

"सात सहेलीय बइठी छइं आइ।
काढउ न पीवए न ऊषध षाइ।
दांत सूकट लिया गोरडी।
भोली तोथी भलीय दवदंती हो नारि।
सो नल राजा मेल्हि गयउ।
पुरष समउ निगुणी नहीय संसारि।।"(16)

विरह की दशा में दूतियों तथा सहेलियों का बहुत महत्त्व होता है। वह सिर्फ बीसलदेव को कोसती ही नहीं वरन् बीसलदेव को रोकने के लिए राजमती को सुझाव भी देती हैं। राजमती के तीक्ष्ण वचनों के कारण जब बीसलदेव चाकरी के लिए जाने का निर्णय लेता है, तब राजमती की सहेलियाँ उसे समझाती हैं कि कैसे पति को परदेस जाने से रोका जाता है। वे कहती हैं –

"सात सहेलीय रही समझाइ।
निगुणी हे गुण हूवइ तउ नाह किउं जाइ।
फूल पगर जिउं गाहिजइ।
चांपीया तेजीय जउ रे उससाइ।
मृग रे चरंता मोहिजइ।
सखी अंचलि बांधियउ नाह किउं जाइ।।"(17)

राजमती को सात सहेलियाँ समझाते हुए कहती हैं, हे निगुणी! यदि स्त्री में गुण हो तो उसे छोड़कर स्वामी चाकरी को क्यों जाएगा? वह स्त्री तो स्वामी को वैसे ही रखेगी जैसे फूल को पगड़ी में रखा जाता है। इसका जवाब देती हुई राजमती सखियों से कहती है, यदि घोड़ा बिगड़ कर उसासें लेने लगे तो उसे वापस संभाला जा सकता है, चरते हुए मृग को भी मोहित किया जा सकता है, किन्तु हे सखी! स्वामी को किस प्रकार से आंचल से बाँधा जा सकता है। सामान्यतः एक नारी जिस सीमा तक नहीं जा सकती है, उस सीमा तक राजमती जाती है। वह कहती है –

"सात सहेलीय सुणउ म्हारीय बात।
कंचूउ षोलि दिषाडिया गात्र।
जा दीठां मुनिवर चलइ।
म्हाकउ मूरष राव न जाणए सार।
त्रीयां चरित मइ लष किया।
राउ नही सषी भइंस पीडार।।"(18)

हे सात सहेलियों! मेरी बात सुनो। मैंने अपना कंचुक हटाकर उसको अपना शरीर दिखाया, जिस शरीर को देखकर मुनिवर भी विचलित हो जाएँ, किन्तु वह मूर्ख राजा मेरा मूल्य नहीं जानता। मैंने लाख कोशिश की किन्तु सब व्यर्थ गया। वह कहती है, हे सखी! वह राजा नरपाल नहीं बल्कि भैंसो को रखने वाला महिषपाल है। राजमती की इस सीमा तक जाने के बाद भी यदि बीसलदेव अविचलित रहता है, तो राजमती का उसको मूर्ख कहना और यह कहना कि वह नरपाल नहीं महिषपाल है, यथार्थ ही लगता है।

अगर राजमती द्वारा प्रस्तुत किए गए सारे तर्कों या उपायों पर नजर डालें तो हमें स्पष्ट हो जाता है कि राजमती इन सभी प्रसंगों में हृदय से नहीं बल्कि बुद्धि से काम लेती है। उसके द्वारा कहे गए वचनों के कारण उत्पन्न इस परिस्थिति के समक्ष वह अति व्याकुल अथवा दयनीय न होकर अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से सभी उपायों अथवा युक्तियों को एक-एक कर अपनाती है। बीसलदेव को कभी चाकरी की चुनौतियों से डराती है तो कभी मर जाने की धमकी देती है, कभी अपने यौवन की दुहाई देकर तो कभी जैसलमेर और अजमेर की प्रशंसा करके। राजमती किसी भी प्रकार से बीसलदेव को रोकना चाहती है। परंतु उसकी सारी युक्तियां तथा उपाय विफल हो

जाते हैं। अंत में उसकी सारी बुद्धि, उसका सारा धैर्य जवाब दे जाता है और बीसलदेव के प्रति उसका सारा क्रोध इस प्रकार से बाहर आता है –

"चालियउ उलगाणउ छंडीय काणि।
अरथ दरब थारा जीव की हाणि।
तइ बूडइ स्वामी म्हे बूडी।
तई गयइ स्वामी ए घर जाइ।"(19)

राजमती कहती है, हे चाकर! सुनो, तुम मर्यादा छोड़कर जा रहे हो, इससे तुम्हारे धन और जीवन की हानि होगी। जैसी स्थिति तुम्हारी होगी, मेरी भी वैसी ही होगी। अर्थात् यदि तुम डूबोगे तो मैं भी डूब जाऊँगी। हे स्वामी! तुम्हारे जाने पर यह घर भी चला जाएगा। उसकी सारी कोशिश व्यर्थ हो जाती है। राजमती के वचन बीसलदेव को अत्यन्त कटु लगे। बीसलदेव राजमती के प्रत्युत्तर में कहता है –

"आकुली बोलि पाछइ पछिताइ।
हिव किउ नाह मनवणउ जाइ।
हर तूठइ वर पामिजइ।
सासू न गिणी न देवर जेठ।
म्हाकउ कह्यउ न राखियउ।
म्हा तोहे गोरडी छेहली भेटि।।"(20)

बिना सोचे-समझे आकुलता पूर्वक बोलने पर मनुष्य पीछे पछताता है। इस प्रकार के वचन बोलकर क्या पति को मनाया जा सकता है? तुमने तो न सास को कुछ समझा, न देवर और जेठ को। मेरा कहना भी तुमने नहीं माना। हे गोरी! इसलिए यह तुम्हारी और मेरी अन्तिम भेट है।

जो व्यक्ति अपने अहंकार और गर्व में इतना मद हो कि पत्नी की सत्य उक्ति भी उसे अनुचित लगे, तथा पत्नी द्वारा किए गए अनुरोधों तथा मनुभावों का जिस पर कोई असर न पड़े उस हृदयहीन व्यक्ति के लिए राजमती का यह क्रोध है। अपने जिद पर डटे हुए राजा को रोकने के लिए राजमती एक अंतिम युक्ति लगाती है।

वह पंडित-ज्योतिषी से राजा के उड़ीसा गमन की तिथि चार महीने आगे बढ़ाने का अनुरोध करती है। उसे लगता है कि ज्योतिषी-पंडित पर शायद विनती का कोई प्रभाव न पड़े, इसलिए राजमती उसे प्रलोभन देती है –

"पंडिया हुं थारी गुणकेरी दासि।
जोसीडा दीह मउडउ परगासि।
मास च्यारि विलंबाविज्यो।
तेतलइ ल्यउंगी म्हाकउ प्रीय समझावि।
देसूं हाथ कउ मूद्रडउ।
सोवन सोंगी कविलीय गाइ।"(21)

राजमती कहती है, हे पंडित! मैं तुम्हारे गुणों की दासी हूँ अर्थात् मैं तुम्हारे गुणों को जानती हूँ। हे ज्योतिषी! तुम यात्रा की तिथि चार महीने विलम्ब से बताना। तुम चार महीने के लिए मेरे पति की यात्रा में विलम्ब करा दो। मैं इन चार महीनों में अपने पति को समझा लूँगी। मैं तुम्हें हाथ की अंगूठी और सोने से मढ़ी सींगों वाली कपिला गाय उपहार स्वरूप दूँगी। राजमती अत्यन्त सूझ-बूझ से काम लेने वाली महिला है। राजमती को इस बात का ज्ञान है कि किसी व्यक्ति का जब तक अपना स्वार्थ अथवा हित नहीं सधता, तब तक वह व्यक्ति पूरे मन से किसी दूसरे व्यक्ति के काम में प्रवृत्त नहीं होता इसलिए राजमती, ज्योतिषी को सोने की मुद्रिका और सोने से मढ़ी सींगों वाली गाय का प्रलोभन देती है। बीसलदेव के उड़ीसा प्रस्थान के समय राजमती उसे सीख देती है।

"स्वामी ऊलग जाण की षरीय जगीस।
राज चरण करि द्यउं तो नइ सीषि।
इण विधि राज माहें संचरइ।
बइठा राजा सभा परधान।
तिणी सुं मीठा बोलिज्यो।
नाई साहुणी नइ घणउ देज्यो मान।
बंदडी सरिसउं नवि हसउ।
तठइ राइ बोलाइसी भीतरि गोठि।
राजा जतन करि बोलिज्यो।

कान नइडा अरू नीची द्रेठि।"(22)

राजमती ने कहा, हे स्वामी! चाकरी जाने की तुम्हारी बहुत इच्छा है, तो मैं तुम्हें राजकीय चलन की शिक्षा देती हूँ। यदि राजसभा में अमात्य बैठें हों तो उनसे मीठा बोलना। नाइ और साहनी को बहुत इज्जत देना, उनका आदर करना, किसी दासी के साथ मत हँसना। वहाँ यदि राजा गोष्ठी में तुम्हें राजभवन के भीतर बुलाए, तो उस समय हे राजा! सोच-समझकर ही बोलना, राजा के निकट होना तो दृष्टि नीची रखना।

"स्वामी ऊलग जाण की षरीय दुसार।
राज नी नीति जिसी षंडा नी धार।
मूरष लोक जाणइ नही।
चोर जुवारी नइ कल्लाल।
तिण सुं हसीय म बोलिज्यो।
राजा जी पूछइ मरम कइ बात।
जूठी सांची थे मत कहउ।
मुहडा आडउ थे दीज्यो हाथ।"(23)

राजमती ने पुनः कहा कि हे स्वामी! चाकरी पर जाने के लिए तुम बहुत उतावले हो, किंतु राजनीति तलवार की धार जैसी होती है। मूर्ख उसे नहीं समझ पाते हैं। चोर, जुआड़ी और कलाल से हँसकर मत बोलना। राजा यदि मर्म की बात पूछें तो तुम मुँह पर हाथ रखकर बातें करना और राजा से झूठी-सच्ची बात मत करना। इन पंक्तियों से हमें ज्ञात होता है कि राजमती को राजनीति की गहरी समझ है। यदि हम ध्यान देखें तो राजमती ने राजनीति में भावुकता को नहीं आने दिया है। पिछले कई प्रसंगों में राजमती, बीसलदेव से रुकने का अनुरोध करती है, उसे तरह-तरह की धमकी देती है, बीसलदेव से चाकरी में होने वाले कष्टों का वर्णन करती है, परन्तु उसके प्रस्थान के समय वह एक बार भी भावावेश में आकर न तो राजा से रुकने का आग्रह करती है और न ही अपनी दयनीय स्थिति का वर्णन करती है, वह राजा को केवल चाकरी का अर्थ समझाती है तथा उसके अनुसार उसे कार्य करने की सीख देती है।

राजा को चाकरी पर जाने से रोकने के लिए राजमती हर प्रयास करती है, अपने प्रयासों को विफल होता देख वह राजा को अन्य सुझाव देते हुए कहती है –

"सइंभरि धणीय किउं ऊलग जाइ।

म्हाकी तूं गइल दे करह पठाइ।

पीहर जाइसुं आपणइ।

आणिसुं अरथ नइ गरथ भंडार।

आणिसुं हीरा पाथरी।

स्वामी मालव सरसी आणिसुं धार।"(24)

राजमती ने कहा, हे राजा! तुम चाकरी को क्यों जा रहे हो? मेरे साथ मार्ग के लिए तुम ऊँट भेज दो। मैं अपने पीहर (मायके) जाकर अर्थ, द्रव्य-भण्डार लाऊँ, हीरा और बहुमूल्य पत्थर लाऊँ, साथ ही मालवा के साथ धार को भी लाऊँ। राजमती के इस प्रस्ताव को भी बीसलदेव ठुकरा देता है। इसके पश्चात् कवि स्त्री की स्थिति को दर्शाता है जिसमें पति के बिना उसका कोई अस्तित्व नहीं है। वह बिना पति के समाज में कैसे जीवित रह सकती है। पति को क्रोधित करना एक बड़ा अपराध हो गया।

"हूं विरासी राजा मइ कीयउ दोस।

पगरी पाणहीस्यउं किसउ रोस।

कीडी ऊपर कटकी किसी।

म्हे हस्या थे करि जाणियउ साच।

ऊभीय मेल्हि किउं चालीयउ।

स्वामी जलह विहूण किम जीयइ माछ।"(25)

राजमती कहती है, हे राजा! मैंने तुम्हे रुष्ट कर दिया, मैंने यह अपराध किया, फिर हे स्वामी! पग की पनही से क्रोध कैसा? कीड़ी के उपर कटकी कैसी। मैंने तो हंसी की थी और तुमने उसे सत्य मान लिया। मुझे छोड़कर क्यों जा रहे हो? हे स्वामी! जल के बिना मछली कैसे जीवित रह सकती है? इतना कहने पर भी जब राजा रूकने के लिए नहीं मानता तब राजमती स्वयं को साथ ले जाने के लिए कहती है।

"ऊलग जाण की करइ छै बात।

हूं पण आवसुं रावलइ साथि।

बांदीय हुइ करि निरबहूं।

पाव तलासिसुं ढोलिसुं वाइ।

ऊभीय पुहरइ जागिसुं।

इण परि ऊलगुं आपणउ राय।"(26)

राजमती कहती है, तुम चाकरी पर जाने की बात करते हो, तो मैं भी अपने राजा के साथ चलूँगी। मैं उसके साथ सेविका होकर निर्वाह करूँगी। उसके पाँव दबाऊँगी और जब वह सो जाएगा तो मैं पंखा झलूँगी। खड़े-खड़े मैं उसके पहरे में जागूँगी और इस प्रकार मैं अपने स्वामी की सेवा करूँगी। राजमती बीसलदेव के साथ रहने के लिए कुछ करने को तैयार है। इस प्रकार के कई पद हमें मिलते हैं जिसमें राजमती परंपराओं में जकड़ी स्त्री के रूप में नजर आती है, जहाँ उसका भी पति के बिना अपना कोई स्वतंत्र रूप नहीं है। कुछ जगहों पर वह मुखर तथा निडर होकर अपनी बात रखने वाली राजमती कहीं खो सी जाती है।

राजमती द्वारा की गई तमाम कोशिशों के बावजूद बीसलदेव अंत में उड़ीसा चला ही जाता है और राजमती उसके वियोग में विरहिणी हो जाती है। बीसलदेव के उड़ीसा चले जाने पर राजमती का शेष जीवन विरहावस्था बीतता है। वह वैशाख मास का वर्णन करते हुए कहती है –

"वइसाषइ धुर लूणिजइ धान।

सीला पाणी अरु पाका जी पांन।

कनक काया घट सींचिजइ।

म्हाकउ मूरष राउ न जाणइ सार।

हाथ लगामी ताजणउ।

ऊभउ सेवइ राज दुआरि।।"(27)

वह कहती है, वैशाख में अन्न काटा जा रहा है। इस समय पानी शीतल और पान पका होता है, कनक-काया रूपी वृक्ष को घड़ों से सींचते हैं। ऐसे सूर्ख राजा मेरा मूल्य नहीं जानता है। वह तो हाथ में घोड़े की लगाम और चाबुक लेकर खड़ा हुआ राज-द्वार पर सेवा कर रहा है। इसी प्रकार वह भादप्रद का वर्णन करती हुई बीसलदेव को याद करती है।

"स्रावण बरसइ छइ छोटीय धार।

प्रीय विण जीविजइ किसइ अधारि।

सही समाणी षेलइ काजली।

तठइ चिडीय कमेडीय मंडिया आस।

बाबहियउ प्रीय प्रीय करइ।

मोनइ अणष लावइ हो स्रावण मास।।"(28)

राजमती कहती है, भाद्रपद का मेघ गहरी और गम्भीर वर्षा कर रहा है। सब जगह ऐसे जलमग्न हो गया है मानो सागर ही उलट गया हो। रात्रि अंधकारपूर्ण होती है, बिजली चमकती है। जल-भार के कारण पृथ्वी और आकाश मिलते हुए प्रतीत होते हैं। वह मूर्ख राजा ऐसे समय में भी आकर मेरी दशा नहीं देखता है। वह कहती है, हे स्वामी! एक तो मैं स्त्री हूँ और उस पर भी अकेली हूँ। यह दोनों दुःख कैसे सहन किया जा सकता है। वह अपने पति के आने की आस लगाए हुए रहती है।

"आसोजइ धणा मंडिया आस।

मांडिया मंदिर घर कविलास।

धउलिया चउबारा चउषंडी।

साधण धउलिया पउलि पगार।

गउष चडी हरषी फिरइ।

जउ घर आविस्यइ मुंध भरतार।।"(29)

आश्विन मास में राजमती पति के आने की आशा करती है। उसने घर और शयन गृह को सजाया, चार खंड के राजभवन की सफेदी कराई। उसने ड्योढी तथा परकोटा की भी सफेदी कराई। वह इस आशा में हर्षित फिर रही थी कि शायद उसका मूढ़ पति घर आ जाए।

पति द्वारा उपेक्षित होने पर राजमती अपने स्त्री जन्म देने के लिए शिव को उलाहना देती है। वह शिव से शिकायत करती हुई कहती हैं –

"अस्त्रीय जनम काइ दीधउ महेस।

अवर जनम थारइ घणा रे नरेस।

रानि न सिरजीय रोझडी।

घणह न सिरजीय धउलीय गाइ।

बनषंड काली कोइली।

हउं बइसती अंबा नइ चंपा की डाल।

भषती द्राष वीजोरडी।

इणि दुष झूरइ अबला जी बाल।।"(30)

वह कहती है, हे महेश! तुमने मुझे स्त्री का जन्म क्यों दिया? हे नरेश! तुम्हारे पास और भी जन्म थे मुझे देने के लिए फिर भी तुमने मुझे नील गाय क्यों नहीं बनाया, घने वन की धौरी गाय भी नहीं बनाया, न ही मुझे वनखंड की काली कोयल बनाया कि मैं आम और चम्पा की डालों पर बैठती और अंगूर तथा फल खाती। हे शिव! यह अबला बाला इन दुःखों में सूख रही है। वह आगे कहती है –

"आंजणी काइं नि सिरजीय करतार।

षेत्र कमावती स्यउं भरतार।

पहिरिण आछी लोवडी।

तुंग तुरीय जिम भीडती गात्र।

साईंय लेती सामुही।

हंसि हंसि बूझती प्री तणी बात।।"(31)

राजमती कहती है, हे विधाता! तुमने मुझे जाटनी क्यों नहीं बनाया? तब मैं अपने पति के साथ खेत में कमाती, अच्छे ऊनी वस्त्र धारण करती, अपना शरीर स्वामी के शरीर से मिलाती, स्वामी के सामने बैठती और प्रियतम से हंस-हंस कर उनकी बातें पूछती। राजमती पति द्वारा मिले विरह से दुःखी है। वह उसे अज्ञानी कहती है तथा अगले जन्म में उसे काला सर्प होने की बात कहती है।

"जाणियउ हो राजा थाकउ जांण।

दुहुं रे काया मिलउ एक परांण।

सा क्यउं दूरि थी मेल्हियइ।

कुल की रे बेटीय सील जंजीर।

जोवन राषंउ मइ चोर जिउं।

पगि पगि तो नइ पहूच रे पाप।

इणि भवि उलगाणउ हूउ।

अवर भवि होयउ कालउ साप।।"(32)

राजमती कहती है, हे राजा! मैं तुम्हारा ज्ञान जान गई। हम दो शरीर किन्तु एक प्राण हैं। तुम उस शरीर को दूर क्यों कर रहे हो? मैं कुलीन कन्या हूँ तथा सदाचार की श्रृंखला में बंधी हूँ। इसलिए यौवन को चोर की भाँति बाँध कर रखा है। हर क्षण इसका अपराध तुम्हे लग रहा है। वह कहती है इस जन्म में तो तुम सिर्फ चाकर ही हुए हो किन्तु अगले जन्म में काले सर्प होगे।

कार्तिक महीने में अपने विरह का वर्णन करती हुई राजमती कहती है-

"चालियउ उलगाणउ कातिग मास।
छोडीया मंदिर घर कविलास।
छोडीया चउबारा चउषंडी।
तठइ पंथि सिरि नयण गमाइया रोइ।
भूष गई त्रिस ऊचटी।
कहि न सषीय नींद किसी परि होइ।"(33)

राजमती कहती है कि चाकर बनकर बीसलदेव कार्तिक मास में चला गया। उसके बिना घर और शयनगृह सूना हो गया है। वह अपनी चौपाल और चार खंडों वाला राजमहल छोड़ गया। जबसे वह गया है तबसे उसके मार्ग की तरफ देखते हुए रो-रो कर मैंने अपने नेत्र गंवा दिए। मुझे अब भूख-प्यास नहीं लगती है, हे सखी! तुम्ही कहो, ऐसे में नींद कैसे आएगी। विरहावस्था में पड़ी विरहिणी के लिए प्रिय की ओर से आने वाले संदेशों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। राजमती भी बीसलदेव के संदेशों का इंतजार कर रही है। वह कहती है –

"मगसिरियइ दिन छोटा जी होइ।
सषीय संदेसउ न पाठवइ कोइ।
संदेसइ ही बज पडयउ।
ऊंचा हो परबत नीचा घाट।
परदेसे पर भुइं गयउ।
तइठ चीरीय न आवइ न चालए बाट।"(34)

अर्थात् मार्गशीर्ष में दिन छोटा होने लगा है। हे सखि! मेरा पति कोई संदेश नहीं भेजता है। उसके भेजे संदेशों पर मानों वज्रपात हो गया है। मेरा पति जहाँ है, उसके मार्ग में ऊँचे पर्वत और नदियों के नीचे घाट पड़ते हैं। मेरा पति न जाने कौन से परदेश और परभूमि गया है, जहाँ से न तो कोई चिट्ठी आती है और न ही कोई वहाँ जाता है। इसी प्रकार वह फाल्गुन का वर्णन करते हुए कहती है –

"फागुण फरहर्या कंपिया रूप।
चितइ चमकियउ निसि नीद न भूष।
दिन रायां रितु पालटी।
म्हाकउ मूरष राउ न देषइ आइ।
जीवउं तउ जोबन सही।
फरहरइ चिहुं दिसि बाजइ छइ बाइ।"(35)

फाल्गुन का महीना फर-फर कर रहा है, वृक्ष हिल रहे हैं। मैं बार-बार चौंक जाती हूँ, रात में न नींद आती है और न भूख लगती है। ऋतु बदल गई है, दिन सुंदर होने लगा है, परंतु मूर्ख राजा आकर मुझे नहीं देखता है। हे सखी! मैं जीवित रहूँगी, तभी तो यौवन का सुख मिलेगा। चारों दिशाओं में वायु प्रवाहित हो रही है, और वायु के स्पर्श से लता-वृक्षादि के सरसराहट की आवाज सुनाई दे रही है।

विरहावस्था में जब नायिका अत्यन्त काम से पीड़ित हो जाती है और अपने प्रिय से मिलने के लिए व्याकुल रहती है। ऐसे में कुटनियां पथ भ्रष्ट करने के लिए उन नायिकाओं को गलत रास्ते पर चलने के लिए प्रेरित करती हैं। समाज के इस अहितकारी पक्ष का भी उल्लेख बीसलदेव रासो में हुआ है। राजमती को भी पथ भ्रष्ट करने के लिए एक अस्सी वर्ष की वृद्धा ने आकर उससे कहा –

"असीय बरस की बुढ़इ बेस।
दंत कवाड्या सिरि पांडुरा केस।
आइ अवाइस संचरी।
गलइ लागी अनइ रुदन करंति।
किउं दिन काटइ हे भाणिजी।
रात दिवस मोनइ थारडी चिंत।
जेतलइ आवइ सइंभरि धणी।

तो नइ महा अपूरब करि ह्युं मीत।।"(36)

राजमती बार-बार बीसलदेव को मूर्ख कहती है, परन्तु उसके हृदय में अपने पति के प्रति अथाह प्रेम भी है। राजमती के हृदय में अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के लिए कोई स्थान नहीं है। एक अस्सी बरस की बुढ़िया राजमती को अपने यौवन की क्षुधा बुझाने की सलाह देती है। प्रत्युत्तर में राजमती उसे फटकारते हुए कहती है –

"बात सुणी कूटणी चालीय ऊठि।
पाटलउ लेइ मचकाइयउ पूठि।
पेट फडावउं थारउ कूटणी।
कोकउं देवर अरू बडउ जेठ।
काढ़उं जीभ जि बोलियउ।
नाक सरीसा काटउं दूनिउ होठ।"(37)

कुटनी की बात सुनकर राजमती को क्रोध आता है और वह कुटनी को मूसल से मारती है। राजमती ने कहा हे कुटनी! मैं तेरा पेट फड़वाती हूँ, मैं अभी अपने देवर और जेठ को बुलाती हूँ, तेरी वह जिह्वा निकलवाती हूँ, जिससे कि तुमने ऐसी बात कही। अभी मैं तुम्हारे नाक के साथ दोनों ओष्ठों को कटवाती हूँ। इस प्रकार से राजमती नारी जीवन के लिए जो आदर्श प्रस्तुत करती है, वह स्तुत्य है।

मात्र स्त्री होने के कारण जिस सामाजिक विषमता, शोषण और दलन का शिकार स्त्री को होना पड़ता है, राजमती उससे पूरी तरह परिचित है। वह जानती है कि इस समाज में स्त्री और पुरुष के लिए अलग-अलग मापदंड हैं। वह जानती है कि एक स्त्री की भलाई इसी में है कि वह चाहे-अनचाहे अपने सम्बन्धित पुरुष (पति, पिता, पुत्र, भाई आदि) से सहमति रखे, अन्यथा उसे समाज द्वारा व्यंग्य और उपहास का पात्र बनना पड़ सकता है।

'स्व' चेतना का ज्ञान होने के बावजूद राजमती अपने को एक परंपरागत स्त्री की छवि से मुक्त नहीं कर पाती है। स्त्री और पुरुष के बीच केवल जैविक अंतर है। परंतु पुरुष सत्ता ने दमन के लिए स्त्रियोचित व्यवहार के जो प्रतिमान निर्धारित किए, वे लम्बे अरसे तक समाज में रहने के कारण एक तरह से स्त्री का स्वभाव हो गए।

स्त्रियों को जिन परंपरागत मिथकीय संस्कारों में जकड़कर रखा गया राजमती का व्यक्तित्व उससे मुक्त नहीं है। अपने पूर्व जन्म की बात बताते हुए राजमती बीसलदेव से कहती है –

"रूप निरूपम मेदिनी।
पहिरणइ लोवडी झीणइ रे लंकि।
आछी गोरी धण पातली।
अहर प्रवालीय नइ दाडिम दंत।"(38)

हे स्वामी! मैंने जगन्नाथ से माँगा कि मैं ऐसा रूप पाऊँ जो इस पृथ्वी पर निरूपमेय हो। मेरी कमर पतली हो, मैं सुंदर गौर वर्ण वाली पतले शरीर की स्त्री होऊँ। मेरे होठ मूंगा अर्थात् लाल रंग के हों। मेरे दाँत अनार जैसे हों। सभी मनुष्य अपने लिए स्वस्थ और सुंदर शरीर की कामना करते हैं और हर समाज में सुंदरता के मापदंड भी अलग-अलग होते हैं, परंतु यहाँ स्त्रियों के सौंदर्य का मापदंड स्वयं स्त्रियों द्वारा नहीं, बल्कि पुरुषों द्वारा तय किया गया है। राजमती ने उक्त पद में अपने लिए जिस सुंदरता की कामना की है, वह पुरुषों द्वारा निर्धारित मापदंड से अलग नहीं है।

राजमती अत्यन्त निडर है। कायरता अथवा निरीहता उसके व्यक्तित्व में कहीं नहीं दिखता। राजमती की कही गई उक्ति को ही आधार बनाकर बीसलदेव बारह वर्षों के लिए उड़ीसा के लिए प्रस्थान करता है। परन्तु सम्पूर्ण रचना में कहीं भी राजमती को अपने कहे पर पश्चाताप होता नहीं दिखता है, क्योंकि उसे भली-भाँति ज्ञात है कि उसने जो कहा था वह सत्य था। फिर सत्य को लेकर क्यों झुकना। यदि राजा सत्य से मुँह मोड़कर अहंकार में आत्ममुग्ध रहना चाहता है तो वह उसके व्यक्तित्व की कमजोरी है, राजमती उससे भला क्यों परेशान हो। इसके साथ ही साथ राजमती बार-बार बीसलदेव की मूर्खता पर व्यंग्य करती है, उसे समझाने का प्रयास करती है। बारह वर्षों के पश्चात् जब बीसलदेव लौटकर घर आता है तब भी राजमती उसकी मूर्खता पर उलाहना देती हुई कहती है। यथा –

"मुलकइ हसइ आलिंगन देइ।
पलिंग न बइसइ अनइ पान न लेइ।
ऊभीय देइ उलंभडा।
आंगुली तोडइ छइ मोडइ छइ बांह।
नाह भरोसउ ना करूं।

तइं तउ बार बरिस किउं मेल्हीय नाह।"(39)

बीसलदेव के लौट आने के पश्चात् राजमती मुस्कुराती है, हँसती है और आलिंगन देती है, किंतु पलंग पर नहीं बैठती और न ही वह बीसलदेव द्वारा दिया हुआ पान खाती है। वह खड़ी होकर बीसलदेव को उलाहना दे रही है कि हे स्वामी! तू उँगलियाँ तोड़ रहा है और बाहें मरोड़ रहा है, किंतु ऐसे स्वामी का भरोसा मैं कैसे करूँ, अर्थात् तुमने बारह वर्षों तक मुझे क्यों छोड़ रखा था? निश्चित रूप से बारह वर्षों के पश्चात् बीसलदेव के सकुशल वापस लौट आने पर राजमती के उमंग और आनंद का कोई ठिकाना नहीं है लेकिन इसके साथ ही साथ वह बीसलदेव को यह एहसास करा देना चाहती है कि उड़ीसा जाकर आपने बहुत बड़ी मूर्खता की। वह पुनः कहती है –

"टकसला मुसकला मोनइ न सुहाइ।
धण कइ हियडलइ हाथ म लाइ।
लाज नहीं प्रीय निरममा।
म्हाकउ वार्यउ तूं किउं ऊलगइं जाइ।"(40)

राजमती ने कहा, राजा, यह तेरी ठसक और मुस्कराहट मुझे अच्छी नहीं लगती है। मुझे तुम हाथ मत लगाओ। हे प्रियतम! तुम अत्यन्त निर्मम हो तुम लज्जित भी नहीं होते हो? मेरे मना करने पर भी तुम चाकरी के लिए क्यों गए? तुमने मेरी छोटी उम्र को भी नहीं देखा। हे गुणहीन स्वामी! तुम मुझे ऐसे में (छोटी उम्र) कैसे छोड़ गए? बीसलदेव के लौट आने के पश्चात भी राजमती को अपने कहे का कोई मलाल नहीं है, क्योंकि उसने जो भी कहा था सत्य था, फिर सत्य बोलने के लिए पश्चाताप कैसा?

इस रचना को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो बीसलदेव रासो में वर्णित घटनाक्रम राजमती के स्वतंत्र, मुखर व्यक्तित्व को पाठकों के समक्ष रखने का साधन मात्र है, इसका साध्य है राजमती जैसे अद्भुत व्यक्तित्व की रचना। तेरहवीं शताब्दी में रचित 'बीसलदेव रासो' की नायिका में अद्भुत आत्मविश्वास है। ऐसा आत्मविश्वास, 'स्व' के प्रति ऐसी सजगता रासो कालीन अन्य काव्यों की नायिकाओं में बहुत कम देखने को मिलता है।

आज जब स्त्रियाँ 'स्व' के प्रति सजग हो रही हैं – समाज, इतिहास और शास्त्र को, हर चीज को अपनी जगह और अपने नजरिए से देख रही हैं, तो सच्चाई के कई ऐसे पक्ष सामने आ रहे हैं, जिससे वे चकित हैं और सामाजिक इतिहास को पुनः लिखने की जरूरत महसूस कर रही हैं। अर्थात् अब वह इतिहास, शास्त्र, समाज सबको अपनी आँखों से देखकर, महसूस कर उसका नए सिरे से विश्लेषण करना चाहती हैं। स्त्री चेतना के आने से हिंदी की कई रचनाओं और उसके साहित्यिक पक्षों को, एक ऐसे नजरिए से देखने की संभावना सामने आ गई है, जिससे इन सभी चीजों को पहले कभी नहीं देखा गया। भुक्त भोगी होने के कारण स्त्री, समाज के रीति-रिवाजों, परंपराओं के उन पक्षों को जानने और महसूस करने लगी हैं, जिसने उनका सदियों से शोषण किया है। इस संदर्भ में ऐसा महसूस करना सही है कि बीसलदेव रासो के पदों को भी स्त्री चेतना के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा और समझा जाना चाहिए, क्योंकि बीसलदेव रासो के पदों का यह पक्ष अब तक लिखे गए लगभग सभी समीक्षात्मक ग्रंथों में संभवतः अनदेखा रह गया है।

स्त्रियों को पहले से ही सत्ता, संपत्ति और प्रतिष्ठा से वंचित रखा गया और स्त्री इस व्यवस्था के विरूद्ध आवाज न उठाए, इसलिए यह व्यवस्था ईश्वर ने बनाई है तथा पति ईश्वर का रूप होता है, ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इस अभेद सामाजिक व्यवस्था में राजमती का व्यक्तित्व, वह भी उस युग में, निश्चय ही पुरुषवर्चस्ववादी व्यवस्था के लिए एक कड़ी चुनौती है, और स्त्री विमर्श का एक नया अध्याय प्रस्तुत करती है।

कवि ने राजमती के संताप, सौंदर्य, विरह, पतिभक्ति, प्रगल्भा, नीति-निपुण एवं प्रोषित पतिका नायिका का जो रूप काव्य में प्रस्तुत किया है, वही परवर्ती कवियों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुआ। इस रचना में जीवन की यथार्थता सरसतम रूप में व्यंजित हो सकी है, पुनः साहित्य में न हमें दूसरी राजमती मिलती है और न दूसरा बीसलदेव ही मिलता है और इसी में 'बीसलदेव रास' के कवि की सबसे बड़ी सफलता निहित है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ –

1. डॉ. तिवारी, वल्लभदास, हिन्दी काव्य में नारी, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा (उत्तर प्रदेश), पृष्ठ संख्या-4
2. सं. डॉ. गुप्त, माता प्रसाद तथा श्री नाहटा अगरचंद, बीसलदेव रास, हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या-91
3. वही, पृष्ठ संख्या-92
4. वही, पृष्ठ संख्या-96-97
5. डॉ. सिंह, बच्चन, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-50
6. सं. डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, दूसरा संस्करण, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृष्ठ संख्या-70
7. सं. डॉ. गुप्त, माता प्रसाद तथा श्री नाहटा अगरचंद, बीसलदेव रास, हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या-109
8. वही, पृष्ठ संख्या-110
9. वही, पृष्ठ संख्या-112-113
10. वही, पृष्ठ संख्या-115
11. वही, पृष्ठ संख्या-119
12. वही, पृष्ठ संख्या-123
13. वही, पृष्ठ संख्या-125
14. वही, पृष्ठ संख्या-129
15. वही, पृष्ठ संख्या-128
16. वही, पृष्ठ संख्या-146
17. वही, पृष्ठ संख्या-132
18. वही, पृष्ठ संख्या-134
19. वही, पृष्ठ संख्या-130
20. वही, पृष्ठ संख्या-131

21. वही, पृष्ठ संख्या 136
22. वही, पृष्ठ संख्या-142
23. वही, पृष्ठ संख्या-143
24. वही, पृष्ठ संख्या-117
25. वही, पृष्ठ संख्या-116
26. वही, पृष्ठ संख्या-119-120
27. वही, पृष्ठ संख्या-155
28. वही, पृष्ठ संख्या-158
29. वही, पृष्ठ संख्या-160
30. वही, पृष्ठ संख्या-162
31. वही, पृष्ठ संख्या-163
32. वही, पृष्ठ संख्या-173
33. वही, पृष्ठ संख्या-149
34. वही, पृष्ठ संख्या-149
35. वही, पृष्ठ संख्या-152
36. वही, पृष्ठ संख्या-164-165
37. वही, पृष्ठ संख्या-165
38. वही, पृष्ठ संख्या-114
39. वही, पृष्ठ संख्या-209
40. वही, पृष्ठ संख्या-210

चतुर्थ अध्याय

सन्देश रासक और स्त्री स्वातन्त्र्य का प्रश्न

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में पुरुष और प्रकृति के रूप में नर और नारी दो रूपों की अद्‌भुत सृष्टि, सृष्टिकर्त्ता ने की है। नारी सृष्टि का साधन और प्रकृति का मूर्त्त रूप होकर पुरुष के लिए सौन्दर्य प्रेम और आनन्द का आधार बनती है। नारी को साहित्यकारों ने कभी आराध्या और माता के रूप में देखा तो कभी विलास की सामग्री के रूप में, कभी उन्होंने उसके प्रति अनुराग दिखाया तो कभी अत्यधिक विरक्ति। साहित्य में आरम्भिक युग से ही नारी के विविध रूपों को किन-किन परिस्थितियों और प्रभावों ने प्रभावित किया है, यह जानने के लिए प्रारम्भ से ही साहित्य में नारी की स्थिति का आकलन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

स्त्री समाज की आधारशिला है। माता और पत्नी के रूप में वह जिन कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का निर्वाह करती है, उन्हीं कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों पर किसी समाज की उन्नति या अवनति आधारित होती है। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति से सम्पूर्ण समाज ज्यादा प्रभावित होता है। ऐसा देखा गया है कि स्त्रियों की उन्नति एवं अवनति का इतिहास सम्पूर्ण समाज की उन्नति एवं अवनति का इतिहास कहलाता है। भारतीय इतिहास में विभिन्न कालों में स्त्री के विकास, उसकी उन्नति, अवनति, उसके संघर्ष, उसको प्राप्त अधिकार और उस पर लगने वाले प्रतिबन्धों की एक लम्बी कहानी है। जो इतिहास के विभिन्न कालों में स्त्रियों की भिन्न-भिन्न स्थितियों को दर्शाती है।

सन्देश रासक में विरहिणी नायिका जन-सामान्य की भावभूमि पर दिखाई देती है। उसमें राजसी ठाठ नहीं है। उसके दुख में अनुभूति की सच्चाई है। कवि ने अनेक नवीन बिम्बों के द्वारा नारी विरह को तीव्र बनाने का प्रयत्न किया है। सन्देश रासक में लोक संवेदना का सहज विस्तार कर, नारी करुणा का मार्मिक करुण सन्देश व्यक्त किया है। विरहिणी पोषितपतिका नायिका का पति धनार्जन हेतु खंभात गया हुआ है। ऐसे समय में विरहिणी पथिक के द्वारा सन्देश पति के पास पहुँचाने का प्रयत्न करती है। नायिका के विरह में प्रकृति का पूर्ण सहयोग है और प्रकृति के प्रांगण में विरह का उत्सव मनाया जाता है। नारी विरह के कारण सम्पूर्ण प्राकृतिक उपादानों की स्थिति भी वैसी ही होती है, जिस प्रकार की स्थिति विरहिणी के हृदय की।

किसी भी रचना के नायक अथवा नायिका की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि रचनाकार उस चरित्र को स्वयं के आग्रहों-पूर्वाग्रहों से कितना मुक्त रख पाता है। ध्यान रहे यह मुक्ति नायक अथवा नायिका के मनोभावों और व्यक्तित्व के लिए होती है, उससे जुड़े अन्य उपादानों अथवा क्रिया-व्यापारों के लिए नहीं। अर्थात् चरित्र की मुक्ति और अन्य विवरणों पर पूर्ण नियंत्रण किसी भी रचना में इन दो विपरीत ध्रुवों को साधना रचनाकार के लिए तलवार की धार पर चलने के सदृश होता है। रचना की सफलता की इस कसौटी पर यदि हम संदेश रासक की नायिका को रखकर देखें तो पाएंगे कि एक ओर तो रचनाकार नायिका के मनोभावों और व्यक्तित्व को ठीक उसी प्रकार कस कर पकड़े रखता है जैसे कथा के अन्य विवरणों और व्यापारों को, तो दूसरी

ओर नायिका के चरित्र को मुक्त भी छोड़ता है और उसका स्वाभाविक विकास होने देता है। इस प्रकार 'संदेश रासक' की नायिका का व्यक्तित्व, रचनाकार के नियंत्रण और नायिका के चरित्र के स्वाभाविक विकास का अद्‌भूत संगम है।

मध्ययुगीन भारतीय प्रेमकाव्यों की एक अन्य विशेषता यह है कि उन्होंने मन लगाकर स्त्रियों के ही विरह का वर्णन किया है, परन्तु संस्कृत के महाकाव्यों में पुरुष पात्रों के भी विरह का वर्णन किया गया है। आदिकवि वाल्मीकि ने रामायण में राम के विलाप का वर्णन किया है, कालिदास की *'मेघदूत'* के रचना का आधार 'यक्ष' का विरह है। इसी प्रकार संस्कृत के अन्य कई काव्यों में भी पुरुष पात्रों की विरह दशा का वर्णन किया गया है। परन्तु हिन्दी के कवियों का हृदय पुरुष के विरह-वर्णन में नहीं लगा है। हिन्दी में नायक के विरह का वर्णन बिल्कुल नहीं मिलता ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि *'पृथ्वीराज रासो'* में 'पृथ्वीराज' के और *'पद्मावत'* में 'रत्नसेन' के पूर्वानुराग का पूर्णतः वर्णन है। सूर, तुलसी आदि कवियों ने भी राधा तथा सीता के प्रति अपने-अपने आराध्यों की व्याकुलता दिखाई है। फिर भी इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि हिन्दी में विरह-वर्णन का अर्थ नायिका का ही विरह-वर्णन समझा जाता है। हिन्दी के कवियों की इसी प्रवृत्ति को लक्ष्य करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है, "ध्यान देने की बात यह है कि विरह की व्याकुलता और असह्य वेदना स्त्रियों के मत्थे अधिक मढ़ी गयी है। प्रेम के वेग की मात्रा स्त्रियों में अधिक दिखाई गयी है। नायक के दिन-दिन क्षीण होने, विरहताप में भस्म होने, सूखकर ठठरी होने के वर्णन में कवियों का जी उतना नहीं लगा है।"(1) इसका कारण बताते हुए शुक्ल जी आगे लिखते हैं कि, "बात यह है कि स्त्रियों की शृंगारचेष्टा वर्णन करने में पुरुषों को जो आनन्द आता है, वह पुरुषों की दशा वर्णन करने में नहीं। इसी से स्त्रियों का विरह-वर्णन हिन्दी काव्य का एक प्रधान अंग ही बन गया। ऋतुवर्णन तो केवल इसी की बदौलत रह गया।"(2)

इससे पहले संस्कृत के कवियों द्वारा पुरुषों के विरह-वर्णन का उल्लेख किया गया है। अतः यह कैसे मान लिया जाए कि हिन्दी के कवियों ने स्त्रियों का विरह-वर्णन केवल इसलिए किया कि वे पुरुष थे और स्त्रियों की शृंगार चेष्टाओं में ही उनका मन रमता था, पुरुषों की विरह चेष्टाओं में नहीं। संस्कृत के कवि भी तो पुरुष ही थे। तब यह निश्चित है कि परवर्ती काव्यों में ऐसी परिपाटी के लिए अन्य बातें जिम्मेदार रही होंगी। कारण कुछ भी हो, परन्तु हिन्दी में नायिकाओं के ही विरह-वर्णन की परम्परा चली। सूफी कवियों ने अवश्य ही फारसी प्रेम-पद्धति पर नायक की भी विरह वेदना को स्थान दिया, परन्तु अन्त तक नायिका को भी विरह में व्यथित दिखाकर भारतीय तथा फारसी प्रेम-पद्धतियों का समन्वय कर दिया।

सन्देश रासक में नायिका के विरह पक्ष का चित्रण किया गया है। कवि ने प्रारम्भ में रूप-वर्णन द्वारा ही उसकी व्याकुलता तथा विरह कातरता व्यक्त कर दी है।

"विजयनयरहु कावि वररमणि,
उत्तंगथिरथोरथणि, विरुडलक्कि, धयरट्ठपउहरि,
दीणाणहि पहुणिहइ, जलपवाह पवहंति दीहरि,
विरहग्गिहि कणयंगितणु तह सामलिमपवन्नु,
णज्जइ राहि विडंविअउ ताराहिवइ सउन्नु।।"(3)

विजयनगर की कोई ऐसी सुन्दरी रमणी जो ऊँचे, स्थिर स्तनों वाली है, जिसकी कटि भिड़ के समान पतली है, जिसकी गति हंस के समान है और जिसका मुखमण्डल दीन हो गया है, दीर्घतर अश्रुजल प्रवाह करती हुई पथ निहार रही है। स्वर्ण के समान अंगों वाली उस रमणी का शरीर विरहाग्नि से इस प्रकार श्यामल हो गया है मानो राहु द्वारा चन्द्रमा सम्पूर्ण ग्रस कर लिया गया हो।

इस प्रकार विलाप करती हुई उस प्रोषितपतिका नायिका ने नगर के बीच का मुख्य रास्ता छोड़कर किनारे जाते हुए एक पथिक को देखा। वह उस पथिक का परिचय पाने के लिए व्याकुल हो गई। कहीं वह पथिक चला न जाए। नायिका के भावपूर्ण चेष्टाओं का वर्णन कवि ने सजीव तथा स्वाभाविकता से किया है। पथिक को देखते ही नायिका के भाव का चित्रण कवि ने इस प्रकार किया है –

"तं जि पहिय पिक्खेविणु पिअउक्कंखिरिय,
मंथरगय सरलाइवि उत्तावलि चलिय,
तण मणहर चल्लंतिय चंचलरमणभरि,
छुडवि खिसिय रसणावलि किंकिणरव पसरि।।"(4)

उस पथिक को देखकर वह प्रियोत्कंठिता (अपनी स्वाभाविक) मंथर गति छोड़कर सीधे ही तेजी से चल पड़ी। तेजी से चलने के कारण उस नायिका के चंचल रमण भार से करधनी छूटकर गिर पड़ी और उसकी किंकिणियों का स्वर फैल गया। इसी प्रकार अन्य –

"तं जं मेहल ठवइ गंठि णिटठुर सुहय,
तुडिय ताव थूलावलि णवसरहारलय,
सा तिवि किवि संवरिवि चइवि किवि संचरिय,

णेवर चरण विलग्गिवि तह पहि पंखुडिय।।"(5)

करधनी को उस सुभगा ने सुदृढ़ गाँठ बाँधकर ठीक किया ही कि तब तक उसकी स्थूल मुक्ताओं वाली नवीन हार लता टूट गयी। ज्यों-ज्यों कुछ उठाकर कुछ छोड़कर वह फिर चली ही थी कि पैरों में फँसकर रास्ते में नूपुर छितरा गया। कवि ने विरह में भी नायिका द्वारा आभूषण धारण किए जाने का वर्णन किया है, परन्तु यह वर्णन नायिका के भावों को व्यक्त करने के लिए कवि ने किया है। क्योंकि अद्दहमाण ने नायिका के विरह की व्याकुलता को शब्दों में नहीं बल्कि उसके हाव-भाव से व्यक्त किया है। जब वह पथिक को देखकर उसकी तरफ जाती है तो जिस प्रकार से उसके आभूषणों का टूटना दिखाया गया है, उससे उस विरहिणी की विरह-दशा का ही पता चलता है, न की शृंगार का।

उपर्युक्त पंक्तियों में नायिका के भावों को कहकर नहीं बल्कि भावविकल चेष्टाओं का सुस्पष्ट और संवेदनशील चित्र खींचकर व्यंजित किया गया है। सजीवता, स्वाभाविकता आदि के कारण इस वर्णन में अपूर्व गतिशील चित्रात्मकता आ गयी है। इसे सन्देश रासक के विरह-वर्णन की भूमिका समझनी चाहिए।

"ठाहि ठाहि णिमिसद्धु सुथिरु अवहारि मणु,
णिसुणि किंपि जं जंपउँ पहिय पसिज्जि खणु,
एय वयण आयन्नि पहिउ कोऊहलिउ,
नेय णिअत्तउ ता सु कमद्धुवि णहु चलिउ।।"(6)

नायिका पथिक को सम्बोधित करते हुए कहती है, ठहरो! ठहरो! आधे क्षण के लिए जो मैं कहती हूँ उसे स्थिर होकर और मन लगाकर सुनो, हे पथिक! क्षणभर के लिए पसीज जाओ अर्थात् दया करो। ये वचन सुनकर पथिक कौतुहल में पड़ गया, वह न लौटा ही और न आधा कदम भी आगे ही बढ़ा।

पथिक भी था तो मनुष्य ही। वह ठहर गया। कुछ देर तो वह विरहिणी नायिका के अपूर्व शोभा को देखता रहा और सराहता रहा। वह लज्जाशील रमणी अपना मस्तक नीचे किए हुए चरण के अंगूठे से धरती कुरेदती रही। कुछ देर बाद उसने पथिक से पूछा कि हे पथिक! तुम कहाँ जाओगे और कहाँ से आ रहे हो? नायिका को 'कहाँ जा रहे हो' का उत्तर पाने की जल्दी थी, किन्तु पथिक ने अपने नगर का नाम पहले बताया तथा अनावश्यक प्रतीत होने वाला नगर वर्णन प्रस्तुत किया। वर्णन के अन्त में पथिक ने बताया कि वह मूलस्थान से एक लेख लेकर प्रभु की आज्ञा से खम्भात जा रहा है।

खम्भात का नाम सुनते ही नायिका दीर्घोच्छवास लेने लगी। उंगलियाँ तोड़ने लगी। उसका कंठ गदगद हो गया। वह बड़ी देर तक वायु से प्रताड़ित कदली की भाँति थरथराती रही।

"एय वयण आयन्नवि सिंधुब्भवयणि,
ससिवि सासु दीहुन्हउ सलिलुब्भवनयणि।
तोड़ि करंगुलि करुण सगग्गिर गिरपसरु,
जालंधरिव समीरि मुंध थरहरीय चिरु।।"(7)

यहाँ पर कवि ने फिर अपनी तरफ से कुछ न कहकर नायिका की चेष्टाओं के माध्यम से ही उसके हृदय की विकलता को व्यक्त किया है। प्रिय जिस स्थान पर गया है उस स्थान के प्रति हृदय में न जाने कितने प्रकार के भाव स्थापित हो जाते हैं। खम्भात के नाम ने उस विरहिणी को हिला के रख दिया। उसके मन में स्त्रियोचित्त भाव उत्पन्न हो जाते हैं। उसका पति उसे छोड़कर प्रवास पर चला गया, उसके विषय में कभी जानने की कोशिश नहीं की ऐसे में नायिका के मन में अपने पति के प्रति क्रोध होना स्वाभाविक है, वह उलाहना भरे शब्दों में कहती है –

"रुइवि खणद्धु वि फुसवि नयण पुण वज्जरिउ,
खंभाइत्तिहि णामि पहिय तणु जज्जरिउ,
तहँ मह अच्छइ णाहु विरहउल्हावयरु,
अहिय कालु गम्मियउ ण आयउ णिद्दयरु।।"(8)

कुछ देर के लिए रोककर और अपने आंसुओं को पोछकर वह कहती है, हे पथिक! खम्भात का नाम सुनकर शरीर जर्जर हो गया। वहाँ विरहाग्नि को प्रज्वलित करने वाला मेरा पति है। बहुत समय बीत गया किन्तु वह निर्दय नहीं आया।

वह आगे कहती है –

"पड मोडवि निमिसिद्धु पहिय जइ दय करहि।
कहउँ किंपि संदेसउ पिय तुच्छक्खरहि।।"(9)

हे पथिक! यदि दया करो तो मैं प्रिय को थोड़े शब्दों में कुछ सन्देश कहूँ। अद्दहमाण ने सन्देशप्रेषण के माध्यम से नायिका के हृदय की अनुभूतियों को सहज भाव से व्यक्त किया है। नायिका सन्देश देने के लिए तत्पर

होती है, किन्तु सोचती है कि, क्या प्रिय को सन्देश भेजने के लिए उसे बचे रहना चाहिए था। जो प्रिय के चले जाते ही विरह की दावाग्नि से जलकर भस्म नहीं हो गया उस निष्ठुर मन से सन्देश कैसे दिया जाय।

"जसु णिग्गामि रेणुक्करडि कइअ ण विरहदवेण।
किम दिज्जइ संदेसडउ तसु णिट्ठुरइ मणेण।।"(10)

इस प्रकार मुख्य विरह-वर्णन प्रारम्भ होता है और साथ ही नायिका की स्त्री मन की व्यथा भी। नायिका स्वयं अपनी विरह दशा बताने लगती है। इसके विरह-वर्णन में अत्युक्तियों का सहारा नहीं लिया गया है। कवि ने बात को सीधे तथा सहज भाव से प्रस्तुत किया है। इसमें कल्पना की उड़ान और ऊहात्मकता नहीं मिलती जो परवर्ती हिन्दी कविता में विरह-वर्णन की एक विशेषता बन गयी।

पथिक से सन्देश कहते हुए वह आगे कहती है –

"संदेसडउ सवित्थरउ, पर मइ कहणु न जाइ,
जो कालंगुलि मुंदडउ सो बांहडी समाइ,
संदेसडउ सवित्थरउ, हउं कहणहं असमत्थ,
मण पिय इक्कति बलियडइ वेवि समाणा हत्थ।।"(11)

अर्थात् हे पथिक! सन्देशा विस्तृत है और तुम जल्दी में हो, पति से इतना अवश्य कह देना कि विरह ने शरीर को इतना कृशकाय बना दिया है कि एक ही चूड़ी में मेरे दोनों हाथ समा जाते हैं, जिस मुंदरी को मैं कनिष्ठिका उँगुली में पहनती थी, उसी में अब मेरी बाँह चली जाती है।

ये पंक्तियाँ देखने में ऊहात्मक लगेंगी, परन्तु इनका प्रयोग मात्र तापमात्रा बताना नहीं है, बल्कि विरह के ताप का हृदय पर प्रभाव डालने के लिए किया गया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "सन्देश रासक का कवि बाह्य वस्तुओं की सम्पूर्ण चित्र योजना इस कौशल से करता है कि उससे विरहिणी के व्यथा-कातर सहानुभूति सम्पन्न कोमल हृदय की मर्मवेदना ही मुखर हो उठती है। वर्णन चाहे जिस दृश्य का हो, व्यंजना हृदय की कोमलता और मर्मवेदना की ही होती है।"(12)

सन्देश रासक की तुलना कालिदास के 'मेघदूत' से करते हुए कहा जा सकता है कि इस खण्डकाव्य में संस्कृत परम्परा की झलक दिखाई देती है। कालिदास द्वारा रचित 'मेघदूत' काव्य में मेघ सन्देशवाहक और विरही पुरुष मात्र है, जबकि सन्देश रासक में कवि ने नारी को विरहिणी के रूप में चित्रित किया है और सन्देशवाहक के रूप में लोक-जीवन के एक साधारण पथिक को लिया है। जो कि मेघ की तरह जड़ नहीं है अपितु

नायिका के दुःख को अनुभव कर दुःखी होता है। उससे सहानुभूति व्यक्त करता है और उस विरहिणी के दुःख को लोक जीवन से संपृक्त कर दिया है। एक स्थल पर नायिका की दुःखपूर्ण उक्ति द्रष्टव्य है –

"गरु अउपरिहउ किंन सहउ, पइ पोरिस निलएण।
जिहि अंगहि तू विलसियउ ते दध्दा विरहेण।।"(13)

इसी बीच उसे शिष्टजन की कही बात याद आ जाती है। यह भी कोई अच्छा काम है, हृदय में स्थित प्रिय जो धरोहर के रूप में वर्तमान है, थोड़े विरह कष्ट के कारण उसे छोड़कर वह मृत्युलोक चली जाय।

"पिअ विरहानल संतविअ जइ बच्चउ सुर लोई।
तुह छड्डिवि हिय अट्ठियह तं परिवाडि ण होइ।।"(14)

वह पथिक से सन्देशा कहती जाती है। पथिक को जाने की जल्दी होती है। वह पति के लिए शिकायत करती हुई सन्देशा कहती है। जिस सामंती समाज में स्त्रियों को चारदिवारी के बाहर निकलने की मनाही थी ऐसे समाज में सन्देश रासक की नायिका अपने मन की बात पति तक पहुँचाने के लिए समाज की उन बेड़ियों को तोड़ती दिखाई देती है।

पथिक तुम जल्दी में हो और सन्देशा बहुत लम्बा है, परन्तु निष्ठुर परदेशी से कह देना 'घने आलिंगन में जहाँ हम लोगों में हार का भी अन्तर नहीं होता था, वहीं अब सागर, सरिता, पर्वत, वृक्ष और दुर्गों का अन्तर हो गया है। क्या यह सहनीय है।

"तइया निवडंत णिवेसियाइं संगमइ जत्थु णहु हारो।
इन्हि सायर-सरिया-गिरि-तरु दुग्गाइं अंतरिया।।"(15)

विरह वर्णन के लिए कवि ने षड्ऋतु वर्णन का सहारा लिया है। पथिक के पूछने पर कि 'भणु कइ कालि पडुत्तइ सुन्दरि। तुअ सुहउं' विरहिणी को याद आता है कि वह ग्रीष्म ऋतु ही थी जब उसका पति उसे छोड़कर चला गया। कवि इन ऋतुओं का वर्णन ग्रीष्मकाल से प्रारम्भ करता है। ये सभी ऋतुएँ प्रिय-विरह के कारण उसे दुःखदायिनी प्रतीत होती हैं। ग्रीष्म ऋतु में चन्दन, कपूर, कमल आदि उसकी विरहाग्नि को और प्रज्वलित करते हैं।

ग्रीष्म बीता, वर्षा आई 'वह मेघों का समय। दसों दिशाओं में बादल छाए हुए हैं, रह-रह के बादल घने हो जाते हैं, आकाश में बिजली चमक रही है, दादुर की ध्वनि चारों ओर व्याप्त हो रही है, मूसलाधार वर्षा एक

क्षण के लिए भी नहीं रुकती। वर्षा का वर्णन करते-करते विरहिणी कातर भाव से कह उठती है, हाय पथिक! पहाड़ों की चोटियों पर से प्रिय ने यह सब कैसे सहा होगा?

"निवड निरंतर नीरहर दुद्धर धरधारोहभरु।
किम सहउ परिहय सिहरट्ठियह दुसहउ कोइल रइस सरु।।"(16)

इस अवस्था में पड़ी विरहिणी को इस बात पर आश्चर्य होता है कि वर्षा के कारण तपन समाप्त हो गई है पर यहाँ तो उसकी दशा विपरीत दिखाई दे रही है। उसकी विरहाग्नि बुझने के स्थान पर और प्रज्वलित हो रही है। शरद् ऋतु के जल के छीजने के साथ-साथ विरहिणी भी छीजती जाती है।

"झिज्झउँ पहिय जलिहि झिज्झंतिहि।"(17)

इस ऋतु में तो 'जिन्ह घर कन्ता ते सुखी' है और 'अच्छहि जिह नारिहिं नर रमिरइ' परन्तु यह सुख मुझे कहाँ? विरहिणी को सन्देह होता है कि शरद् ऋतु में क्या उस देश में ज्योत्स्ना स्फुरित नहीं होती, क्या वहाँ अरविंदों के बीच हंस कलरव नहीं करते, क्या वहाँ कोई ललित राग में प्राकृत गाथा नहीं पढ़ता, क्या वहाँ कोकिल की कूक नहीं गूँजती, क्या प्रत्यूष बेला में ओससिक्त कुसुमभार नहीं महकता? या पथिक, मैं यह मान लूँ कि प्रिय ही अरसिक हो गया है जो वह शरदकाल में भी घर की याद नहीं करता। कवि के शब्दों में –

"कि तहि देसि णहु फुरइ जुन्ह णिसि णिम्मल चंदह,
अह कलरउ न कुणंति हंस फल सेवि रविंदह,
अह पायउ णहु पढ़इ कोइ सुललिय पुण राइण,
अह पंचमु णहु कुणइ कोइ कावालिय भाइण,
महमहइ अहव पच्चूसि णहु ओससित्तुधण कुसुमभरु,
अह मुणिउ पहिय! अणरसिउ पिउ सरइसमइ जुन सरइ घरु।।"(18)

'शिशिर और हेमन्त' में भी विरहिणी के ताप में किसी प्रकार की कमी नहीं। 'वसन्त' की सम्पूर्ण रूपराशि, उल्लास, समृद्धि और सौन्दर्य विरहिणी की विरह-वेदना को बढ़ाने के लिए ही आते हैं। लोगों ने 'अशोक' का नाम तो झूठे ही दे रखा है, वह क्षण भर के लिए भी शोक नहीं हरता –

"जसु नामु अलिक्कउ कहइ लोउ।

णहु हरइ खणध्द असोउ सोउ।।"(19)

पथिक इन सबका यही प्रभाव है कि शरीर विरह की अग्नि से जलता रहता है और अनंग के बाण उसे हमेशा जर्जरित करते रहते हैं।

"विरहग्गि झाल पज्जलिअ अंगि।
जज्जरियउ वाणिहिं तणु अणंगि।।"(20)

अद्दहमाण ने ऋतु-वर्णन करने का बहाना बड़े कौशल से निकाला है। सन्देश-रासक का ऋतु-वर्णन पहले से चले आ रहे विरह-वर्णन का स्वाभाविक विकास लगता है, केवल परम्परा पालन के लिए ऊपर से लादा हुआ नहीं। कवि के ऋतु-वर्णन की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि ग्राम्य जीवन के कुछ ऐसे चित्र स्थान-स्थान पर अंकित किए गए हैं जो उसकी व्यापक निरीक्षण-शक्ति के परिचायक हैं। वर्षा ऋतु में पथिक जूते पैर से निकाल कर पार करते हैं। दीपावली के अवसर पर आँखों में काजल लगाए जाते हैं। शिशिर ऋतु में सुगन्धित ईख का रस गर्म कर लोग पीते दिखाई देते हैं।

अद्दहमाण के ऋतु-वर्णन का मूल्यांकन करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि, "सन्देश रासक में कवि ने जिस बाह्य प्रकृति के व्यापारों का वर्णन किया है, वह रासो के समान ही कवि-प्रथा के अनुसार है। जायसी की भाँति अद्दहमाण के सादृश्यमूलक अलंकार और बाह्य वस्तु निरूपक वर्णन बाह्य वस्तु की ओर पाठक का ध्यान न ले जाकर विरह कातर मनुष्य के मर्मस्थल की पीड़ा को अधिक व्यक्त करता है।"(21)

'सन्देश रासक' तथा 'बीसलदेव रासो' एक तरह के ही ग्रन्थ हैं। दोनों में लोक जीवन का स्पर्श है और दोनों विरह काव्य हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि बीसलदेव रासो के आरम्भ में विवाह के भी गीत हैं और बीसलदेव के विदेश जाने का भी प्रसंग है। सन्देश रासक में षड्ऋतु वर्णन है, जबकि बीसलदेव रासो में बारहमासा का वर्णन है। सन्देश रासक में पथिक नायिका का सन्देश लेकर ज्यों ही प्रस्थान करता है कि विरहिणी को प्रियतम दिखाई पड़ जाता है और काव्य वहीं समाप्त हो जाता है, किन्तु बीसलदेव रासो में पथिक सन्देशा पहुँचाता है, फिर राजा का आगमन होता है। इस प्रकार राजा और रानी के आनन्दपूर्ण मिलन में कथा की समाप्ति होती है। प्रो. नामवर सिंह ने दोनों काव्यों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "अभिव्यक्ति की सादगी और भावों की तीव्रता में बीसलदेव रासो, सन्देश रासक से कहीं अधिक लोक जीवन के रंग में रंगा हुआ है। इसी से यह प्रामाणित होता है कि हिन्दी साहित्य के अभ्युदय काल में अपभ्रंश युग की अपेक्षा लोक जीवन में

जागृति अधिक आ गई थी और इसके फलस्वरूप साहित्य में लोक तत्त्व का प्रवेश अधिक दूर तक होने लगा था।"(22)

लोक तत्त्वों के ही सन्दर्भ में सन्देश रासक तथा बीसलदेव रासो की तुलना करते हुए डॉ. बच्चन सिंह लिखते हैं- "सन्देश रासक में एक विरहिणी नायिका पथिक से विरह-सन्देश भेजती है, रासो की राजमती भी सन्देशवाहक से अपना विरह निवेदन भेजती है। रासक में सन्देश वाहक के जाने के पीछे ही नायक आ जाता है, किन्तु रासो में सन्देशवाहक सन्देश लेकर उड़ीसा जा पहुँचता है। किन्तु जहाँ तक लोकतत्त्वों का सम्बन्ध है, रासक की अपेक्षा रासो में वह अधिक है।"(23)

इसी प्रकार एक अन्य लोक काव्य 'ढोला मारु रा दूहा' सन्देश रासक के समान ही एक विरह काव्य है, किन्तु इसमें प्रेमी जीवन के जिन घात-प्रतिघातों का वर्णन है, वह कदाचित सन्देश रासक में नहीं है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सन्देश रासक की पृथ्वीराज रासो से भिन्नता प्रकट करते हुए कहते हैं, "पृथ्वीराज रासो प्रेम के मिलन पक्ष का काव्य है और सन्देश रासक विरह पक्ष का, रासो काव्य-रुढ़ियों द्वारा वातावरण तैयार करता है और सन्देश रासक हृदय की मर्म वेदना के द्वारा । रासो में घर के बाहर का वातावरण प्रमुख है और सन्देश रासक में भीतर का। रासो नये-नये रोमांस प्रस्तुत करता है और सन्देश रासक पुरानी प्रीति को निखार देता है।"(24)

काव्य का मुख्य विषय विप्रलम्भ शृंगार है। अतः ऋतु-वर्णन में विरहताप अधिक है। नायिका को सभी वस्तुएँ दुःखदायिनी लगती हैं, अरुचिकर प्रतीत होती हैं। आनन्ददायी वस्तुएँ उसके ताप को बढ़ाने में सहायक हो गई हैं। उदाहरण के लिए शरद् ऋतु का वर्णन देखा जा सकता है।

शरद् ऋतु आई, दिवाली का त्यौहार आ गया। घर पर उत्सव है, परन्तु नायिका का भवन सूना है। उसे निराशा है, ईर्ष्या है, घृणा है। शरद् का सम्पूर्ण सौन्दर्य, त्यौहार का सारा उत्साह उसके प्रियतम को घर लाने में असमर्थ रहा। अतः वह दुःखी है और आश्चर्य से सोचती है कि क्या उस देश में शुभ्र ज्योत्सना के साथ चन्द्रमा नहीं प्रकट होता? क्या वहाँ कमलसेवी हंस कलरव नहीं करते? अथवा क्या वहाँ सुललित, सुमनोहर प्राकृत काव्य नहीं पढ़ा जाता? अथवा क्या वहाँ कोकिला अपने पंचम स्वर में नहीं कूकती? क्या वहाँ प्रत्यूष बेला में रवि किरणों से प्रफुल्लित कुसुम गन्ध नहीं छोड़ते? अच्छा, हे पथिक! मैंने जान लिया कि यदि शरद् समय में भी पति गृह का स्मरण नहीं करते तो वे रसज्ञ नहीं हैं।

"कि तहि देसि णहु फुरइ जुन्ह णिसि णिम्मल चंदह।

अह कलरउ म कुणंति हंस फल सेवि रविंदह।

अह पायउ णहु पढ़इ कोइ सुललिय पुण राइण।

अह पंचमु णहु कुणइ कोइ कावालिय भाइण।

महमह अहव पच्चसि णहु ओससित्तु घण कुसुमभरु।

अह मुणिउ पहिय! अणरसिउ पिउ सरइ जु न सरइ घरु।।"(25)

उपर्युक्त पद हमें सूरदास की 'किधौ घन गर्जत नही उन देसन' गाती हुई गोपियों का ध्यान हो आता है। इसी प्रकार नागमती कहती है –

"कातिक सरद चंद उजियारी, जग शीतल हौं विरहे जारी।

चौदह करा चाँद परगासा, जनहुँ जरे सब धरती अकासा।

तन मन सेज करे अगिदाहू, सब कह चंद भएउ मोंहि राहू।

चहूँ खंड लागे अँधियारा, जो घर नाहिं कंत पियारा।

अबहूँ निठुर। आउ एहिबारा, परब देवारी होइ संसारा।

सखि झूमक गावें अंग मोरी, हों झुराव, बिछुरी मोरि जोरी।।"(26)

शरद् के व्यतीत होते ही हेमन्त आ जाती है। क्रमानुसार सभी ऋतुओं का वर्णन प्राप्त हो जाता है। सन्देश रासक के ऋतुवर्णन में विरहदशा की अनुभूतियों के वर्णन का प्रयास अधिक है। समस्त सन्देश रासक में बाह्य प्रकृति का वर्णन केवल सहानुभूतिमय प्रेमपरायण हृदय को दिखा देने के साधन के रूप में ही लिया गया है। जायसी के बारहमासा में भी सर्वत्र यही बात उपलब्ध होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, "जब हृदय दुःख में मग्न रहता है तब सुखद और दुःखद दोनों प्रकार की वस्तुओं से दुःख का संग्रह करता है।"(27)

हिन्दी में षड्ऋतु-वर्णन के अतिरिक्त बारहमासा का भी प्रयोग मिलता है। इन दोनों में षड्ऋतु का वर्णन प्रायः संयोग शृंगार के लिए तथा बारहमासा का वियोग शृंगार के लिए चित्रित दिखाई पड़ता है। परन्तु कहीं-कहीं इसका अपवाद भी मिलता है। 'सन्देश रासक' में षड्ऋतु का वर्णन नायिका की विरह वेदना को अभिव्यंजित करने के उद्देश्य से ही किया गया है, परन्तु 'पृथ्वीराज रासो' और 'ढोला मारु रा दूहा' में यह वर्णन संयोग के लिए किया गया है। जायसी के 'पद्मावत' में भी षड्ऋतु का वर्णन रतनसेन और पद्मावती के संयोग शृंगार को चित्रित करने के लिए ही किया गया है। बारहमासा के प्रयोग से विरह शृंगार का वर्णन बीसलदेव रासो, पद्मावत आदि सभी काव्यग्रन्थों में मिलता है। बारहमासा का प्रयोग बहुत प्राचीन काव्यों में नहीं मिलता।

डॉ. श्री कृष्णलाल का विचार है कि, "हिन्दी साहित्य का 'बारहमासा' फारसी काव्य पद्धति से मिलता है। वह यहाँ सूफियों की रचनाओं के माध्यम से आया है। फारसी साहित्य में क्रम पद्धति पर कविता करने की कई प्रणालियाँ प्रचलित थीं, जैसे अरबी वर्णक्रम के आधार पर 'अलिफनामा' जिसका भारतीयकरण 'अखरावट' और 'ककहरा' के रूप में मिलता है।"(28)

मनुष्य के जीवन में जिस प्रकार संयोग के दिन आते हैं उसी प्रकार वियोग के भी। साहित्य में रानियों, महारानियों के वियोग से उन सामान्य नायिकाओं का विरह निवेदन अधिक कारुणिक दिखाई पड़ता है, जिनके पति धनोपार्जन या व्यापार के लिए परदेश चले जाते हैं। इसीलिए सामान्यतः कवि रानियों के भी विरह को सामान्य नारी के विरह के रूप में चित्रित करते हैं। 'सन्देश रासक' की नायिका का पति इसी उद्देश्य से बाहर गया है। परन्तु बाहर जाने के और भी कई कारण दिखाई पड़ते हैं। 'बीसलदेव रासो' में राजा अपनी रानी से रुठकर उड़ीसा जाता है। तो 'पद्मावत' के रतनसेन को पद्मावती के आकर्षण के कारण और इस रूप में कवियों को इस कथानक-रुढ़ि के उपयोग का बड़ा अच्छा अवसर मिल जाता है, जिसमें बारहमासा या षड्ऋतु वर्णन के माध्यम से विरह प्रदर्शित किया जाता है। कुछ विरह-निवेदन षड्ऋतु वर्णन के माध्यम से हुए दिखाई पड़ते हैं, जैसे 'सन्देश रासक', 'पृथ्वीराज रासो', 'ढोला मारु रा दूहा' तथा आधुनिक काव्य 'साकेत' में। इनमें एक जैसी ही वर्णन-पद्धति दिखाई देती है।

परन्तु अधिकांश विरह-निवेदन बारहमासा के माध्यम से ही वर्णित दिखाई पड़ते हैं। 'बीसलदेव रासो', 'पद्मावत', 'चन्दायन', विद्यापति पदावली आदि में विरह-निवेदन बारहमासा के द्वारा ही चित्रित हुए हैं। 'ऋतुसंहार', 'सन्देश रासक' और 'ढोला मारु रा दूहा' में ऋतुओं का वर्णन ग्रीष्म से प्रारम्भ होता है। किन्तु 'पृथ्वीराज रासो' और 'पद्मावत' में षड्ऋतु वर्णन वसन्त से प्रारम्भ होता है। 'पद्मावत' में बारहमासा आषाढ़ से प्रारम्भ होता है जबकि 'बीसलदेव रासो' में कार्तिक मास से। इससे यह ज्ञात होता है कि ऋतुवर्णन कहाँ से प्रारम्भ किया जाय इस पर कोई सर्वमान्य परम्परा नहीं थी। इसका ध्यान अवश्य रखा जाता था कि यह वर्णन किसी उद्दीपक ऋतु से प्रारम्भ हो। यह ऋतुवर्णन मिलने के सुख और विरह के दुःख दोनों में उद्दीपन संचार के लिए किया जाता था। कवियों का संवेदनशील व्यक्तित्व मनुष्य के सुख-दुःख का प्रतिबिम्ब प्रकृति में देखता है। लेकिन इसमें यह स्मरणीय है कि इस प्रकार के वर्णनों में प्रकृति केवल उद्दीपन का ही काम करती है अर्थात् वह मनुष्य के सुख-दुःख की आश्रिता होकर ही दिखाई पड़ती है अपने स्वतन्त्र रूप में नहीं। परन्तु इसके माध्यम से मानव जीवन का यह पक्ष बड़े ही मर्मस्पर्शी ढंग से प्रस्तुत हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। सन्देश रासक में भी कवि ने ऋतुवर्णन की परम्परा का प्रयोग नायिका के विरह को अधिक प्रगाढ़ बनाने के लिए ही किया है।

विरहिणी का पति घर से ग्रीष्म में गया था। अतः पथिक के यह पूछने पर कि तुम कितने दिनों से विरहाग्नि में जल रही हो, वह सबसे पहले ग्रीष्म का वर्णन करती है, जिसमें उसका पति उसे छोड़कर गया था। ठीक ग्रामीण स्त्रियों की भाँति वह ग्रीष्मानल को जल जाने और मलय पवन को सूख जाने का शाप देकर ग्रीष्म वर्णन प्रारम्भ करती है।

यद्यपि सन्देश रासक में ऋतुवर्णन का मुख्य उद्देश्य विरहिणी के अपार विरह दुःख को व्यंजित करना है, किन्तु उसके लिए बाह्य प्रकृति का सहारा अधिक मात्रा में लिया गया है। यही कारण है कि ऋतुवर्णन के अन्तर्गत कवि को प्रकृति वर्णन करने का भी अवसर मिल गया है। कवि प्रत्येक ऋतु के वर्णन में पहले प्रकृति के उद्दीपन रूप का भलीभाँति चित्रण कर देता है, उसके बाद विरहिणी की विरहाग्नि की पीड़ा व्यक्त करता है। फलस्वरूप सम्पूर्ण प्रकृति नायिका की विरह-वेदना की पृष्ठभूमि का कार्य करती है। जैसे ग्रीष्मऋतु का रूप है कि आकाशतल यमराज की जिह्वा के समान लहलहाता है और धरा-धूप ताप के कारण तड़-तड़ कर रही है। ऊपर से विरहिणी को इस प्रकार जला रही है कि यदि वह रात्रि में सुखद कमलदल की शय्या पर लेटती है तो भी उसका उद्वेग द्विगुणित हो जाता है और वह रातभर गदगद कंठ से विरह-परक गान पढ़ा करती है।

"णिसि सयणिह जं खित्तु सरीरह सुह जणणु।
विउणउ करइ उवेउ कमलदलसत्थरणु।
इम सिज्जह उठ्ठंत पडंत सलज्जिरिहि।
पढ़िउ वत्थु तह दोहउ पहिय सगग्गिरिहि।।"(29)

इसी प्रकार वर्षा ऋतु में चारों ओर घोर अन्धकार छा जाता है। बादल सरोष गर्जन करने लगते हैं। सूचीभेद्य अन्धकार में पगडंडियाँ बिजली के चमकने पर रह-रहकर दिखायी पड़ती है। दसों दिशाओं में बादलों के छा जाने से अन्धकार छा गया है। उन्नमित कृष्ण मेघ घनघोर गर्जन कर रहे हैं। नभ में चंचल विद्युतलता तड़क रही है, मेंढ़कों का कठोर रव किसी से सहा नहीं जाता है। धारासार वर्षा एक क्षण के लिए भी नहीं रुकती। विरहिणी कातर भाव से पूछती है कि हे पथिक! तुम्हीं कहो कि आम्रतरु शिखरासीन कोकिल की मनोहर ध्वनि इस ऋतु में मैं कैसे सहूँ।

"झंपवि तम बद्दलिण दसह दिसि छायउ अंबरु।
उन्नवियउ घुरहुरइ घोरु घणु किसणाडंबरु।
णहह मग्गि णहवल्लि तरल तडयडिवि तडक्कइ।
दद्दुर रडणु रउद्दु कुवि सहवि ण सक्कइ।

निवड निरंतर नीरहर दुद्धर धरधारोहभरु।

किम सहउ पहिय सिहरट्ठियइ दुसहउ कोइल रसइ सरु।

उल्हवियं गिम्हहवी धाराणिवहेण पाउसे पत्ते।

अच्चरियं मह हियए विरहग्गि तवइ अहिअयरं।।"(30)

इसी प्रकार सूर की गोपियों को भी पपीहे का बोलना उनके विरह दुःख को और बढ़ा रहा है, जिससे गोपियाँ उसे फटकारती हुई कहती हैं –

"हौं तो मोहन के विरह जरी, रे! तू कत जारत?

रे पापी तू पकि पपीहा! 'पिउ पिउ पिउ' अधिराति पुकारत।।"(31)

वर्षा के बाद शरद् ऋतु आ गई। फिर भी विरहिणी का पति नहीं लौटा। शरद् के आते ही आकाश स्वच्छ हो गया। जलाशयों में कमल खिल गये। अपने दुःख में दूसरों का सुख और अधिक वेदना को बढ़ाता है। विरहिणी भी जब देखती है कि जिनके पति साथ हैं वे अपने पति के साथ अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करके और चित्रविचित्र वस्त्र धारण करके सुखी होती हैं तो उसकी अवस्था और भी बुरी हो जाती है। उसे रात में एक क्षण के लिए भी नींद नहीं आती। प्रिय की कथा का स्मरण करती हुई वह रातभर जागती रहती है। इसी प्रकार नागमती भी प्रिय विरह में सब कुछ भूल गयी है। वह कहती है –

"जिन्ह घर कन्ता ते सुखी, तिन्ह गारौ औ गर्ब।

कंत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्ब।।"(32)

शरद् ऋतु के वर्णन के पश्चात् बाह्य प्रकृति का वर्णन अपेक्षाकृत कम और नायिका की विरहवेदना का वर्णन अधिक हो गया है। इसका कारण यही ज्ञात होता है कि ज्यों-ज्यों विरह-वेदना गम्भीर होती जाती है त्यों-त्यों कवि का ध्यान प्रकृति से हटकर नायिका की विरहपीड़ा में अधिक केन्द्रित होता गया है।

शरद् के पश्चात् हेमन्त भी आ गया, परन्तु उसका पति नहीं लौटा। अन्य लोग शरीर को अगरु से धूपित करते हैं, कुंकुम लगाते हैं और प्रगाढ़ आलिंगन से अपने अंगों को सुख देते हैं। हेमन्त के दिन अन्य ऋतुओं के दिनों की अपेक्षा अत्यन्त छोटे होते हैं। उस विरहिणी के लिए एक-एक दिन ब्रह्मा का एक-एक युग के समान प्रतीत होता है।

"धूज्जइ तह अगरु गुसिणु तणि लाइयइ।

गाढ़उ निवडालिंगणु अंगि सुहाइयइ।

अन्नह दिवसह सन्निहि अंगुलमत्त हुय।

महु इक्कह परि पहिय! णिवेहिय बम्हजुय।।"(33)

सारी ऋतुओं के बीतने के पश्चात् भी जब इसका पति वापस आता दिखाई नहीं देता तब नायिका का मन खिन्न हो जाता है तथा वह क्रोधाग्नि में अपने पति को निरक्षर तथा निर्दयी कहते हुए उसे पापी, मूर्ख सब कह डालती है। विरह का समय नायिका के लिए जीवन का सबसे बड़ा कष्टपूर्ण समय होता है। इस ऋतु में सबके पति उनके पास हैं और नायिका अकेली इस कामाग्नि में जलती रहती है।

"दीहउसासिहि दीहरयणि मह गइय णिरक्खर।

आइ ण णिद्दय! णिंद तुज्झ सुयरंतिय तक्खर।

अंगिहिँ तुह अलहंत धिट्ठ करयलफरिसु।

संसोसिउ तणु हिमिण हाम हेमह सरिसु।

हेमंत कंत बिलवंतियह, जइ पलुट्टि नासासिहसि।

तं तइय मुक्ख! खल! पाइ मइ मुइय विज्ज किं आविहसि।।"(34)

नायिका कहती है, हे निरक्षर! दीर्घोच्छवास लेते हुए मेरी दीर्घ रात्रि समाप्त हुई है। हे तस्कर! निर्दय! तुम्हारा स्मरण करते हुए मुझे नींद नहीं आयी। हे धृष्ट! तुम्हारे करतलों का स्पर्श न पाने से हेमंत ने मेरे शरीर को उसी प्रकार सुखा डाला है जैसे धूप ठण्डक को सुखा डालता है। हे कांत! हेमंत में विलपती हुई मुझे वापस आकर आश्वासन नहीं दोगे तो हे मूर्ख! खल! पापी! क्या मेरे मरने के बाद आओगे। जिस प्रकार से नायिका यहाँ अपने पति को कई नामों से सम्बोधित करती है इससे पता चलता है कि उसमें किसी का भय नहीं है। वह समाज की किसी बेड़ी में स्वयं को जकड़ने नहीं देती अपितु एक पुरुष के सामने ही अपने पति को इन नामों से पुकारती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो वह उस पुरुषवादी सत्ता को चुनौति दे रही है।

इसी प्रकार नागमती के लिए भी दिन-दूभर हो गया है। दोनों नायिकाओं का विरह समान है। नागमती कहती है –

"अगहन दिवस घटा निसि बाढ़ी। दूभर रैनि, जाइ किमि गाढ़ी?

अब यहि बिरह दिवस भा राती। जरौं विरह जस दीपक बाती।।"(35)

सन्देश रासक की प्रोषितपतिका नायिका ने जैसे-तैसे हेमन्त काटा। शिशिर ऋतु आ गयी, फिर भी धूर्त प्रिय नहीं लौटा। लोग इस ऋतु में भाँति-भाँति के उत्सव मनाने लगे। विविध गन्ध मिला करके गन्ने का रस भरपेट पीते हैं। सौभाग्यवती स्त्रियाँ कुंद चतुर्थी का उत्सव करके अपनी-अपनी शय्या पर प्रसन्नतापूर्वक लेटी रहती हैं।

कुछ स्त्रियाँ वसन्त जन्मोत्सव में दान करती हैं, अपने पतियों के साथ आनन्द मनाती हैं। इसी समय अकेली विरहिणी ने अपने पति के पास मनरुपी दूत भेजा। उसने समझा था कि यह मनरुपी दूत प्रिय को उसके पास ला देगा और उसे सन्तोष देगा। मैं नहीं जानती थी कि वह दुष्ट धूर्त भी मुझे छोड़ देगा। प्रिय नहीं आया और वह मन भी उसके पास से नहीं लौटा। उसका हृदय दुःखभार के आधिक्य से पूरित हो गया।

"मइ जाणिउ पिउ आणि मज्झ संतोसिहइ।
णहु मुणिअउ खलु धिट्ठ सोवि महु मिल्हिहइ।
पिउ णाविउ इहु दूउ गहिवि तत्थवि रहिउ।
सव्व हियउ महु दुक्खि भरिउ पूरिउ अहिउ।।"(36)

अन्त में विरहिणीयों की विरहाग्नि को प्रज्वलित करता हुआ वसन्त आ पहुँचा। इस ऋतु में दसों दिशाएँ हँसने लगती हैं। नव कुसुमपत्र धारण करके प्रकृति अनेक रूपों में निरन्तर अपने को सजाती रहती है। सखियाँ मिलकर विविध रागों में अनेक प्रकार के सुन्दर गीत गाने लगीं। विरहिणी पथिक से कहती है कि मैंने पति का स्मरण करते-करते अति दुस्सह ग्रीष्म बिता दिया, वर्षा बिता दी, शरद्, हेमन्त और शिशिर भी किसी प्रकार काट दिए, किन्तु मेरा पति वसन्त में भी आता नहीं दिखाई देता एक ओर वसन्त का यह प्रभाव है कि भ्रमर काँटों की चिन्ता न करके मधुपान में मत्त हैं। उनके शरीर में काँटें गड़ जाते हैं किन्तु वे पीड़ा नहीं गिनते। रसलोभी रस के लिए शरीर तक दे देते हैं और पाप-पुण्य की परवाह नहीं करते, इधर मैं तीव्र विरह-ज्वाला से जलकर आकुल हो रही हूँ। कामदेव गर्जन कर रहा है। मैं दुस्तर और दुस्सह विरह समुद्र में सभय पड़ी हूँ किन्तु मेरे पति को मेरी कोई चिन्ता नहीं है और वह खम्भात में अपने व्यापार में संलग्न है।

"पज्जलंत विरहूग्गि तिव्व झालाउलं।
मयरद्धवि गज्जंतु लहरि घण भाउलं।
सहवि दुसहु दुत्तर विचरिज्जइ सब्भयं।
मह णेहह किवि दुग्गु वणिज्जइ णिब्भयं।।"(37)

वसन्त के पश्चात् षड्ऋतु का चक्र पूरा होता है और विरहिणी पथिक को जाने की आज्ञा दे देती है। पथिक के जाते ही विरहिणी का पति उपस्थित हो जाता है।

उपालम्भ केवल निन्दा या शिकायत नहीं है बल्कि उसमें प्रेम के बीज का भाव भी निहित होता है। उपालम्भ उलाहना मात्र नहीं है, अपितु गहरी आत्मीयता और प्रणय से उद्भूत ऐसी उक्ति है, जो प्रेमिका से विमुक्त प्रेमी की मिलनोत्कंठा को व्यक्त करती है। उससे प्रणय अनुभूति और भी गहरी हो जाती है। सन्देश रासक में विरहिणी पथिक से सन्देश कहते हुए अपने पति के लिए उलाहना भरे शब्दों में अपना विरह व्यक्त करती है।

"तुय समरंत समाहि मोहु विसमट्ठियउ,
तहि खणि खुवइ कवालु न वामकरट्ठियउ,
सिज्जासणउ न मिल्हउ खण खट्टंगलय,
कावालिय कावालिणि तुय विरहेण किय।।"(38)

अर्थात् हे कापालिक! तुम्हारे विरह ने विरहिणी को कापालिनी बना दिया है। तुम्हारा स्मरण करती हुई मैं मोह की विषम समाधि में स्थित रहती हूँ, जिस प्रकार कापालिक के हाथ में हमेशा कपाल रहता है, उसी प्रकार मेरे बायें कर पर स्थित मेरा सर क्षणभर के लिए भी नहीं हटता। कापालिक क्षणभर के लिए भी सिद्धासन और खद्वांग नही छोड़ता, उसी प्रकार मैं भी शय्यासन और खाट का पावा कभी नहीं त्यागती अर्थात् हमेशा खाट पर एक किनारे पड़ी रहती हूँ।

वह यहीं नहीं रुकती, आगे भी उलाहना देती हुई कहती है –

"ल्हसिउ अंसु उद्धसिउ अंगु विलुलिय अलय,
हुय उब्बिंबिर वयण खलिय विवरीय गय,
कुंकुमकणयसरिच्छ कंति कसिणावरिय,
हुइय मुंध तुय विरहि णिसायर णिसियरिय।।"(39)

मेरे तेज का ह्रास हो गया है, अंग धँस गये हैं, केश छिटके हैं, मुख मण्डल फीका पड़ गया है, गति स्खलित और विपरीत हो गयी है, कुंकुम और स्वर्ण के समान देह की कांति काली हो गयी है। हे निशाचर! तुम्हारे विरह में मुग्धा मैं निशाचरी हो गयी हूँ।

इसी परम्परा में सूरदास की गोपियाँ सागर-मंथन के समय के चन्द्रमा को निकालने वालों तक, इस उपालम्भ में अपनी दृष्टि दौड़ाती हैं –

"या बिनु होत कहा अब सूनो?

लै किन प्रगट कियो प्राची दिसि, बिरहिनि को दुख दूनो?

सब निरदय सुर, असुर, सैल सखि ! सायर सर्प समेत।।

धन्य कहौं वर्षा ऋतु, तमचुर औ कमलन को हेत।

जुग-जुग जीवै जरा वापुरी मिलै राहु अरु केत।।"(40)

इसी प्रकार रीतिमुक्त कवि घनानन्द ने भी अपनी प्रेमिका सुजान से शिकायत तो की किन्तु उनका दोष अपने भाग्य को ही दिया।

"कैसे घनानन्द अदोषनि लगाय खोरि।

लेखनि लिलार की परेखनि मुरति है।।"(41)

आलम के उपालम्भ में वेदना की कसक है जो पाठक को मोह लेती है। माधव के विरह से कामकंदला संतप्त है और इसकी शिकायत आँसू बहकर करते हैं –

"नैन झरति जिमि मेह, गरब देह भीजत सकल।

विधरत जयौ सनेह, मन व्याकुल तन थकित भया।।"(42)

प्रेयसी की निष्ठुरता 'आँसू' में प्रेमी के लिए और भी असह्य हो गयी है।

"रो-रोकर सिसक-सिसककर कहता मैं करुण कहानी।

तुम सुमन नाचते सुनते, करते जानी-अनजानी।।"(43)

छायावादी कवि निराला जी के सन्दर्भ में यह बात महत्त्वपूर्ण है कि उनके काव्यों में उपालम्भ अधिकतर प्रेयसी के माध्यम से दिया गया, जो आदिकालीन कवियों की विशेषता थी। यह पूर्व के कवि घनानन्द, आलम और जयशंकर प्रसाद से भिन्न है क्योंकि उन कवियों ने प्रेमी को ही अधिकतर उपालम्भ का माध्यम बनाया है। निराला की प्रारम्भिक रचना 'जुही की कली' में नायिका शिकायत करती है। क्योंकि अनजाने में ही –

"निर्दय उस नायक ने निकट निठुराई की

कि झोकों की झारियों से

सुन्दर, सुकुमार देह सारी झकझोर डाली।।"(44)

प्रेम में प्रतीक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रतीक्षा के बाद प्रेमी एवं प्रेमिका का मिलन और भी घनीभूत हो उठता है। यही कारण है कि साहित्य में वियोग-वर्णन की समृद्ध परम्परा रही है। इस आशा में की वियोग से संयोग और भी मधुर होगा लेकिन वही वियोग अपनी सीमा पार कर जाए तो प्रेमपात्र के लिए दुःख का कारण बन जाती है। यही कारण है कि अद्दहमाण की नायिका कह उठती है –

"जामिणि गमियइ इम जग्गंतह,
पहिय पियागमि आस तगंतह,
गोसुयरंत मिल्हि सिज्जासणु,
मणि सुमरंत विरहणिन्नासणु।।"(45)

हे पथिक! मैं इस प्रकार जागती हुई और प्रिय के आगमन की आशा में ताकती हुई रातें बिताती हूँ। प्रातःकाल शय्यासन छोड़कर मन में विरहनाशक प्रिय का स्मरण करती हुई –

"दक्खिण मग्गु णियंतह भत्तिहि,
दिट्ठ अइत्थि रिसिउ मइ झत्तिहि,
मुणिउ सु पाउसु पुणु परिगमिअउ,
पिउ परएसि रहिउ णहु रमिअउ।।"(46)

और भक्तिपूर्वक दक्षिण दिशा की ओर देखती हुई, मैंने सहसा अगस्त्य ऋषि (तारा) को देखा तब मैंने सोचा कि पावस बीत गया, प्रिय परदेश में ही रमा रहा, आया नहीं।

इसी प्रकार नागमती भी विरह में व्याकुल है। वह भी प्रिय की प्रतीक्षा में है। वह कहती है –

"सरवर सँवरि हंस चलि आए, सारस कुरलहिं, खंजन देखाए।
भा परगास, काँस बन फूले, कंत न फिरे बिदेसहि भूले।।"(47)

आधुनिक काल के छायावादी कवि निराला की नायिका भी विरह व्यथित है। वह कहती है-

"कब से मैं पथ देख रही प्रिय।
उर न तुम्हारे देख रही प्रिय।।"(48)

विलम्ब का यह स्वर रीतिमुक्त काव्य में भी देखने को मिलता है। जैसे-

"आलम कहै हो घटी घटी अटा चढ़ि जाए।

चाहै चहुँ ओर, पाछै राखै नयना मोरि मैं।।"(49)

विरह प्रेम की सच्ची कसौटी है, जिस प्रकार सोना आग में तपने पर कुन्दन बन जाता है, उसी प्रकार विरह की आग में तपकर प्रेम और भी निखर जाता है। यही कारण है कि प्रारम्भ से ही भारतीय साहित्य में विरह की प्रमुखता रही है। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में संयोग की पुष्टि के लिए वियोग का होना आवश्यक कहा है।

"न बिना विप्रलम्भेन संयोगः पुष्टिमश्नुते।"(50)

घनानन्द का मानना है कि विरह का सच्चा स्वरूप तड़पने में ही है। वे कहते हैं कि, मेरी विरह-यातना की व्याकुलता की कोई भी प्रेमी समता नहीं कर सकता क्योंकि इस विश्व में प्रेमियों की विरहजन्य व्याकुलता के लिए पतंग और मीन का उदाहरण दिया जाता है, पर मेरी दृष्टि में विरह का सच्चा स्वरूप प्रेमी की तड़प में दृष्टिगत होता है, जहाँ वह मरने की कामना नहीं करता अपितु जीते जी विरह ज्वाला में जलता और जीता है –

"हीन भये जल मीन अधीन, कहा कछु मो अकुलानि समानै।
नीर सनेह को कलंक, निहास छै कायर त्यागत प्रानै।।"(51)

सन्देश रासक में नायिका कहती है –

"तुह विरहपहरसंचूरिआइँ विहडंति जं न अंगाइँ।
तं अज्ज-कल्ल-संघडण-ओसहे (आसहे?) णाह तग्गंति।।"(52)

अर्थात् हे नाथ! तुम्हारे विरह के प्रहार से संचूर्णित अंग यदि टूटकर अलग नहीं हो जाते तो उसका कारण यह है कि आज या कल मिलने की आशा की औषध उन्हें टूटकर गिरने नहीं देती।

सन्देश रासक में नायिका विरह से व्याकुल है, उसके शरीर की कान्ति भी समाप्त हो गई है। वह कहती है, मेरे तेज का ह्रास हो गया है, अंग धँस गये हैं, केश छिटके हैं, मुख मंडल फीका पड़ गया है, गति स्खलित और विपरीत हो गयी है, कुंकुम और स्वर्ण के समान देह की कान्ति काली हो गयी है। हे निशाचर! तुम्हारे विरह में मुग्धा मैं निशाचरी हो गयी हूँ।

"ल्हसिउ अंसु उद्धसिउ अंगु विलुलिय अलय।
हुय उब्बिंबिर वयण खलिय विवरीय गय।
कुंकुमकणयसरिच्छ कंति कसिणावरिय।

हुइय मुंध तुय विरहि णिसायर णिसियरिय।।"(53)

सूरदास ने भी भ्रमरगीत-सार में विरह-विदग्धा राधा के अंगों और चेष्टाओं का विरह से द्युतिहिन और मंद होना व्यंजित किया है –

"तब ते इन सबहिन सचु पायो।
जब तें हरि संदेस तिहारो सुनत ताँवरो आयो।।
फूले व्याल दुरे तें प्रगटे, पवन पेट भरि खायो।
ऊँचे बैठि बिहंग सभा बिच कोकिल मंगल गायो।।
निकसि कंदरा तें केहरिहु माथे पूँछ हिलायो।
बन-गृह में गजराज निकसि कै अँग-अँग गर्व जनायो।।"(54)

आलमकेलि में भी संयोग के दिनों में जो वस्त्र नायिका के लिए आकर्षक था वह आज विरह के समय अग्नि सा प्रतीत होता है –

"कंचन में आँच गई, चूनी चिनगारी भई।
भूषन भए हैं सब दूषन उतारि लैं।।"(55)

प्रसाद जी का काव्य 'आँसू' हिन्दी का श्रेष्ठ विरह काव्य है। 'आँसू' की नायिका की वेदना उस समय और बढ़ जाती है जब उनकी गुहार अनुत्तरित होकर भटकती है –

"आती है शून्य क्षितिज से, क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी?
टकराती बिलखाती सी, पगली सी देती फेरी।।(56)

प्रवास विप्रलम्भ शृंगार का मुख्य भेद है। प्रवास के वर्णन के लिए ही कवियों ने छह ऋतुओं और बारहसासा आदि की उद्भावना की है और इसी कारण काव्य में प्रकृति के विभिन्न दृश्यों के वर्णनों का और प्राकृतिक वातावरण का मानव पर पड़ने वाले प्रभावों का चित्रण सम्भव हुआ है। पक्षी अथवा किसी पथिक के द्वारा प्रिय के पास सन्देश भेजना प्रवास विप्रलम्भ की सबसे व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण रुढ़ि है। रीतिकालीन कवि घनानन्द ने भी अपने काव्य में इस रुढ़ि का पालन किया है। वह पवन को दूत बनाकर अपने प्रेमी के पास भेजते हैं और कहते हैं –

"विरह-विधा की मूरि आंखिन में राखों पूरी,

धूरि तिन पायन की हा हा, नैकु आनि दै।।"(57)

सन्देश रासक में विरहिणी नायिका अपनी विरह- दशा का वर्णन करती हुई पथिक से कहती है –

"अणियत्तखलं जलवरिहणेण लज्जंति नयण नहु धिट्ठा।
खंडववणजलणं विय विरहग्गी तवइ अहिययरं।।"(58)

अर्थात् मेरे धृष्ट नेत्र, जिसका गिरना कभी निवृत्त नहीं होता, ऐसी जलवर्षा करने से कभी लज्जित नहीं होते, यद्यपि विरहाग्नि इस वर्षा से बुझती नहीं बल्कि खांडव वन में लगी हुई अग्नि के समान और तेज जलती है।

वह पथिक से अपना सन्देशा कहती जाती है। प्रवास पर गए पति के लिए शिकायत भरे शब्दों में वह पथिक से कहती है –

"पियविरहविओए संगमसोए दिवसरयणि झूरतं मणे,
णिरु अंगु सुसंतह वाह फुसंतह अप्पह णिद्दय किंपि भणे।
तसु सुयण निवेसिय भाइण पेसिय मोहवसण बोलंत खणे,
मह सामिय वक्खरु हरि गउ तक्खरु जाउँ सरणि कसु पहिय।।"(59)

अर्थात् हे निर्दय! प्रिय विरहजन्य वियोग से संगम के सोच से दिन-रात चिंतित रहने वाले मन से अपने आपके बारे में, जिसे आँसू पोंछते रहना पड़ता है मैं कुछ भी क्यों न कहूँ, उससे क्या लाभ है। परन्तु चिंता इस बात की है कि उस प्रिय के रूप नामक वस्तु की जिसे प्रिय ने अपने सुंदर शरीर से लगाया, प्रीतिपूर्वक निहारा, वह 'रूप' वस्तु विरह रूपी चोर उस समय चुरा ले गया जब मैं बेहोशी की हालत में समय बिता रही थी। हाय! लुटी हुई अब मैं किसकी शरण में जाऊँ।

वह अपने विरक्त पति की उपमा अन्य वस्तुओं से देती हुई कहती है –

"जइ अंबरु उग्गिलइ राय पुणि रंगियइ,
अह निन्नेहह होइ अंग अब्भंगियइ।
अह हारिज्जइ दविणु जिणिवि पुणु भिट्टियइ,
पियह विरत्तउ हियउ पहिय किम वट्टियइ।।"(60)

यदि वस्त्र रंग छोड़ दे तो उसे फिर रंग लिया जाये, यदि अंग स्नेहहीन हो जाये तो मालिश करके उसे चिकना बना लिया जाये, द्रव्य जुए में हार जाइए तो जीतकर उसे पुनः प्राप्त कर लिया जाये, किन्तु प्रिय का विरक्त हृदय किस प्रकार लौटाया जाये।

संयोग के दिनों में आनन्द की तरंगें उठाने वाले पदार्थों को वियोग के दिनों में देखकर जो दुःख होता है उसकी व्यंजना के लिए कवियों ने उपालम्भ का सहारा लिया है। चन्द्रोपालम्भ सम्बन्धी बड़ी सुन्दर कविताएँ संस्कृत साहित्य में हैं। विरहिणी के लिए विरह का एक-एक दिन एक-एक युग के समान प्रतीत होता है। उसके लिए दिन-रात बराबर हो गए हैं। वह कहती है –

"उतरायणु वड्ढिहि दिवस,
णिसि दक्खिण इहु पुव्व णिओइउ।
दुच्चिय वड्ढहि जत्थ पिय,
इहु तीय अ विरहायणु होइउ।।"(61)

अर्थात् उत्तरायण में दिन बढ़ता है और दक्षिणायन में रात बढ़ती है यह पूर्व नियोजित है, जिसमें दोनों बढ़ते हैं वह तीसरा विरहायण भी होता है।

इसी परम्परा का पालन नागमती विरह-वर्णन में भी देखा जा सकता है। नागमती कहती है –

"चौदह करा चाँद परगासा। जनहुँ जरै सब धरति अकासा।।
तन मन सेज करै अगिदाहू। सब कहँ चंद, भएउ मोहि राहू।।"(62)

प्रिय के विरह में व्याकुल नायिका को एक दिन सौं सालों के समान लगता है। वह प्रिय के लिए सन्देश कहते हुए कहती है –

"फलु विरहग्गि पवासि तुअ,
पाइअ अम्हिहि जाइ पियह भणु।
चिरु जीवंतउ लद्ध वरु,
हुअउ संवच्छर तुल्लउ इक्कु दिणु।।"(63)

अर्थात् प्रिय से जाकर कहना कि तुम्हारे प्रवास में मुझे विरहाग्नि का फल प्राप्त हुआ है, वह फल है चिरंजीवि होने का वरदान जिससे एक दिन संवत्सर के समान लगता है।

उसकी इस करुण कथा से पथिक भी विचलित हो जाता है। अपनी यात्रा स्थगित कर उसकी विरहव्यथा को दत्तचित्त हो सुनता है, उसके अविरत करुणाश्रु देखकर पथिक भी चकित हो जाता है। किस प्रकार उसे शान्ति दे। वह केवल यही कहता है, 'शुभे, तुम अपने आँसुओं को रोको, जाते हुए पथिक का अमंगल न करो।'

पथिक अपने कार्य की आवश्यकता बताकर शीघ्र जाने को उत्सुक है परन्तु वह विरह व्याप्त बाला इतनी दुःखी है कि बड़ी चतुरता से अपने हृदय की परिवेदना का निवेदन करती है। उस निवेदन में इतनी कातरता है कि पथिक न जा सकता है और न उसे छोड़ सकता है। समस्त द्वितीय प्रक्रम इसी उत्तर प्रत्युत्तर में समाप्त हो जाता है और तीसरे में षड्ऋतु वर्णन का अवसर प्राप्त हो जाता है।

ग्रीष्मकाल विरहिणी की विरहाग्नि को और बढ़ा रहा है। वह कहती है –

"तह पत्तिहि संसग्गिहि चूयाकंखिरिय,
कीरपंति परिवसयइ णिवड णिरंतरिय।
लइ पल्लव झुल्लंति समुट्ठिय करुण झुणि,
हउ किय णिस्साहार पहिय साहारवणि।।"(64)

अर्थात् पत्तों के साथ लगे हुए आम्रफल की उत्कंठा से निबिड़ निरंतर कीर पंक्ति में बैठी हुई है। कीर पल्लव के साथ झूलते हैं तो करुणध्वनि उठती है। पथिक! सहकार वन ने मुझे बेसहारा कर दिया।

नागमती भी पति वियोग में व्याकुल है। वह कहती है –

"पिउ बियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा निति बोले 'पिउ पीऊ।।
अधिक काम दाधे सो रामा। हरि लेइ सुवा गएउ पिउ नामा।।"(65)

नायिका पथिक से वर्षा ऋतु का वर्णन करती हुई कहती है –

"बगु मिल्हवि सलिलद्दहु तरुसिहरिहि चडिउ,
तंडवु करिवि सिंहडिहि वर सिहरिहि रडिउ।
सलिल निवहि सालूरिहि फरसिउ रसु सरि,
कलयलु किउ कलयंठिहि चडि चूयह सिहरि।।"(66)

अर्थात् बगुले जलाशयों को छोड़कर तरुशिखरों पर चढ़ गये। तांडव करते हुए मोर शिखरों पर बोलने लगे। मेंढ़क जलाशयों में परुष स्वर करने लगे। आम के शिखर पर चढ़कर कोकिलों ने कल-कल शब्द किया, परन्तु मेरा पति परदेस में ही रम गया है।

इस ऋतु में स्त्रियाँ अपने पतियों के साथ क्रीड़ाएँ करती हैं। विरहिणी को ये सारी चीजें और दुःख देती हैं। यह ऋतु उसकी विरहाग्नि को कम करने की जगह और बढ़ाता है। वह कहती है –

"मच्छरभय संचडिउ रन्नि गोयंगणिहि,
मणहर रमियइ नाहु रंगि गोयंगणिहि।
हरियाउल धरवलउ कयंबिण महमहिउ,
कियउ भंगु अंगंगि अणंगिण मह अहिउ।।"(67)

अर्थात् मच्छरों के भय से गौओं का समूह ऊँचे स्थल पर चढ़ गया है। गोपांगनाएँ अपने पतियों के साथ मनोहर क्रीड़ाएँ करती हैं। हरिताकुल धरावलय कदंब से सुगंधित हो गयी। अनंग ने मेरे अंग-अंग को और अधिक भंग कर दिया है।

नागमती भी आषाढ़ ऋतु का वर्णन करती हुई कहती है –

"पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह, मँदिर को छावा।।
अद्रा लाग लागि भुइँ लेई। मोहिं बिनु पिउ को आदर देई।।"(68)

सन्देश रासक में शरद् ऋतु के आगमन के साथ ही विरहिणी की दुःख की ज्वाला भी बढ़ गई। सारस के करुण शब्द उसके विरह दुःख को और बढ़ाते हैं कोई भी उसके दुःख को पूछने नहीं आता। इसका वर्णन करती हुई वह पथिक से कहती है –

"णिट्ठुर करुणु सद्दु मणमहि लव,
दड्ढा महिल हाइ गयमहिलव।
इम इक्किक्कह करुण भणंतह,
पहिय ण कुइ धीरवइ खणंतह।।"(69)

अर्थात् हे सारसी! निष्ठुर करुण शब्दों को मन में ही लिए रहो, क्योंकि वे शब्द सुनकर विरहदग्धा महिलाएँ उदास हो जाती हैं। हे पथिक! इस प्रकार एक-एक सारसी करुण शब्द बोलती है कोई मुझे क्षणभर के लिए भी धीरज नहीं बँधाता।

जिनके पति घर पर हैं वे स्त्रियाँ तरह-तरह के आभूषण तथा वस्त्र धारण करती हैं। गीत गाती हैं। विरह व्यथित नायिका ये सब सहन नहीं कर पाती है। वह अपने दुःख को व्यक्त करती हुई कहती है –

"अच्छहि जिह सन्निहि घर कंतय,
रच्छिहि रमहि ति रासु रमंतय।
करिवि सिँगारु विविह आहरणिहिँ,
चित्तविचित्तहिँ तणु पंगुरणिहिँ।।"

अर्थात् जिनके पति उनके साथ घर पर हैं, वे स्त्रियाँ विविध आभूषणों और चित्र-विचित्र वस्त्रों से शरीर का शृंगार करके गलियों में रास खेलती हुई घूमती हैं।

"तिलु भालयलि तुरक्कि तिलक्किव,
कुंकुमि चंदणि तणु चच्चक्किव।
सोरडहिँ करि लियहि फिरंतिहि,
दिव्व मणोहरु गेउ गिरंतिहि।।"

वो अपने माथे को चटकीले तिलक से तिलकित कर, शरीर को कुंकुम चंदन से चर्चित करके हाथों में सोरंडक लिये, घूमती हुई स्त्रियाँ दिव्य मनोहर गीत गाती हुई –

"धूव दिंति गुरुभत्ति-सइत्तिहि,
गोआसणिहिँ तुरंग चलत्थिहि।
तं जोइविहउँ णिय उव्विन्निय,
णेय सहिय मह इच्छा उन्निय।।"(70)

बड़ी भक्ति के साथ गोशाला और तुरंगशाला में धूप देती हैं। उन्हें देखकर मैं नितान्त उद्विग्न हो गयी। मैं स्त्रियों की यह क्रीड़ा सहन नहीं कर पायी और मेरी प्रियविषयक इच्छा बढ़ गयी।

इस प्रकार सन्देश कहते हुए नायिका के माध्यम से कवि ने षड्ऋतु का वर्णन किया है। शरद् के पश्चात् हेमन्त भी गया परन्तु उसका प्रवासी प्रिय नहीं आया। किसी तरह उसने शिशिर ऋतु बितायी परन्तु वसन्त का आगमन उससे नहीं सहा जा रहा। विरह में उसे ऋतु परिवर्तन का पता ही नहीं चलता। वह कहती है –

"दूइज्जउ दूइय वरहिणीहिँ कयहरिस णट्टवरहम्मि।
गयणे पसरियणवदुम घणभंती मुणिय पुण दुम्मं।।"(71)

जो नष्ट विरह के समान है, मयूरियों को हर्ष करते हुए देखकर मुझे कष्ट हुआ। फिर मैंने सोचा कि ये आनन्द कल्लोल क्यों कर रहे हैं, तो गगन में प्रसारित नवद्रुममाला को मेघमाला की भाँति देखकर मैं फिर दुःखी हो गयी।

वसन्त में प्रकृति की शोभा अवश्य बढ़ जाती है किन्तु विरही जनों की विरहाग्नि भी उसी मात्रा में अधिक तापकारी हो जाती है। इसके अतिरिक्त सन्देश रासक की नायिका के विरह की चरम सीमा भी कवि को वसन्त में ही दिखानी थी। इसके बाद तो उसकी प्रियतम से भेंट हो जाने वाली है। वसन्त में नायिका की यह स्थिति हो गई है कि वह प्रकृति के किसी दृश्य या व्यापार को अपने विरह से अलग करके नहीं देख पाती है। वसन्त में कुसुमित पलाश को देखकर वह कहती है कि किंशुक का रंग घने काले और रक्तवर्ण का हो गया है। मानो पलाश मांसभक्षक हो गया है। प्रचंड वायु सभी के लिए दुस्सह हो गयी है। सहिजन से भी सभी को असुख ही मिलता है।

"किंसुयइ कसिण घण रत्तवास,
पच्चक्ख पलासइ धुय पलास।
सवि दुस्सह हूय पहंजेणण,
संजणिउ असुहुवि सुहंजणेण।।"(71)

एक प्रसंग है जिसमें कवि के नियंत्रण से परे नायिका के चरित्र का स्वाभाविक विकास दिखाई देता है। अपनी दारूण विरहावस्था को वर्णित करने और पति के लिए पथिक को संदेश देने के क्रम में नायिका अनेकशः बार अपने पति के लिए- कापालिक, निशाचर, धृष्ट, खल, तस्कर, निर्दय, पापी, मूर्ख, धूर्त जैसे विशेषणों का प्रयोग करती है।

पति के लिए नायिका के उक्त विशेषण पति के प्रति नायिका की एकनिष्ठ और अगाध प्रेम का परिचायक तो है ही, पति के प्रति खीझ और क्रोध का भी परिचायक है। नायिका की इस विरहावस्था का कारण उसका पति है, अतः पति के प्रति ऐसे विशेषण पूरे प्रसंग को अत्यन्त स्वाभाविक तो बना ही देते हैं, नायिका के कथनों

को उचित भी ठहराते हैं। जो व्यक्ति उक्त विशेषणों से युक्त हो, वही भरे यौवन में नवविवाहिता को छोड़कर धन अर्जन हेतु परदेस गमन कर सकता है।

सन्देश रासक के प्रकृति वर्णन को देखने से पता चलता है कि वह मेघदूत की अपेक्षा ऋतुसंहार के निकट है। यद्यपि मेघदूत और सन्देश रासक दोनों विरह काव्य हैं जबकि ऋतुसंहार संयोगकालीन ऋतुवर्णन है, फिर भी सन्देश रासक का प्रकृति वर्णन मेघदूत की भाँति स्वच्छन्द नहीं है। इसमें प्रकृति की झाँकी ऋतुवर्णन के अन्तर्गत दिखायी गयी है। यहाँ परिवर्तित ऋतुओं में प्रकृति विरहजन्य दुःख की विविध छायाओं का अनुभव कराती है। प्रकृति की भूमिका पर विविध ऋतुओं में विरह का चित्र खींचना ही कवि को अभीष्ट है। ऋतुसंहार में कवि ने ऋतुओं के माध्यम से प्रकृति का चित्र खिंचा है, सन्देश रासक में अद्दहमाण भी ऋतुओं के वर्णन के माध्यम से नायिका के दुःख को व्यक्त करते हैं। प्रकृति ऋतुओं के सहायक के रूप में आयी है।

पति द्वारा उपेक्षित एक स्त्री की वेदना अनामिका द्वारा भी उद्घृत किया गया है –

"पिरिए पराननाथ,

सादर परनाम!

इहां त सब-कुछ कुसले-कुसल छई।

अहें के हाल ला अत्मा बिकल छई।

यादो न हेत पिया हमरी सूरतिया।

बिरसल न हेत मुदा ससुरक नाम।"(72)

जब कोई स्त्री विरह में व्याकुल होती है तो उसके मन में अनेक प्रकार के विचार आते हैं, सन्देश रासक की नायिका भी उसी का अंग है। उसे भी प्रिय के प्रवास जाने और वापस ना आने पर क्रोध होता है, जिससे वह पथिक से अपने पति के लिए सन्देश कहते हुए कापालिक, निष्ठुर, निर्दयी, अरसिक आदि जैसे शब्दों का प्रयोग करती है। विरह में पड़ी नायिका में ही, स्त्री स्वातंत्र्य को अच्छी तरह देखा जा सकता है। उस समय उसे समाज या घर की चारदीवारी कैद नहीं कर सकती, वह अपने मन की बात अपने प्रिय तक पहुँचाने के लिए उन सारी परंपराओं को तोड़ती दिखाई देती है। सन्देश रासक की स्त्री को केवल विरह में तपती नायिका के रूप में ही नहीं अपितु एक मुखर, निडर स्त्री के रूप में भी देखा जा सकता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ –

1. सं. आचार्य शुक्ल, रामचन्द्र, जायसी ग्रन्थावली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या-22
2. वही, पृष्ठ संख्या-22
3. सं. आचार्य द्विवेदी, हजारीप्रसाद तथा त्रिपाठी, विश्वनाथ, सन्देश रासक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1975, पृष्ठ संख्या-148
4. वही, पृष्ठ संख्या-149
5. वही, पृष्ठ संख्या-149
6. वही, पृष्ठ संख्या-150
7. वही, पृष्ठ संख्या-158
8. वही, पृष्ठ संख्या-158
9. वही, पृष्ठ संख्या-158
10. वही, पृष्ठ संख्या-158
11. वही, पृष्ठ संख्या-160
12. आचार्य द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2006, पृष्ठ संख्या-127
13. सं. आचार्य द्विवेदी, हजारीप्रसाद तथा त्रिपाठी, विश्वनाथ, सन्देश रासक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1975, पृष्ठ संख्या-129
14. वही, पृष्ठ संख्या-159
15. वही, पृष्ठ संख्या-163
16. वही, पृष्ठ संख्या-178
17. वही, पृष्ठ संख्या-181
18. वही, पृष्ठ संख्या-185
19. वही, पृष्ठ संख्या-192

20. वही, पृष्ठ संख्या-193

21. आचार्य द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2006, पृष्ठ संख्या-127

22. डॉ. सिंह, नामवर, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1954, पृष्ठ संख्या-234

23. डॉ. सिंह, बच्चन, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संशोधित संस्करण, 2012, पृष्ठ संख्या-49

24. आचार्य द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पांचवी आवृत्ति, 2003, पृष्ठ संख्या-51

25. सं. आचार्य द्विवेदी, हजारीप्रसाद तथा त्रिपाठी, विश्वनाथ, सन्देश रासक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1975, पृष्ठ संख्या-185-186

26. सं. आचार्य शुक्ल, रामचन्द्र, जायसी ग्रन्थावली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या-305

27. वही, पृष्ठ संख्या-37

28. सं. आचार्य द्विवेदी, हजारीप्रसाद तथा त्रिपाठी, विश्वनाथ, सन्देश रासक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1975, पृष्ठ संख्या-134

29. वही, पृष्ठ संख्या-174

30. वही, पृष्ठ संख्या-178

31. सं. आचार्य शुक्ल, रामचन्द्र, भ्रमरगीतसार, साहित्य सेवा सदन, बनारस, पृष्ठ संख्या-26

32. सं. आचार्य शुक्ल, रामचन्द्र, जायसी ग्रन्थावली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या-304

33. सं. आचार्य द्विवेदी, हजारीप्रसाद तथा त्रिपाठी, विश्वनाथ, सन्देश रासक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1975, पृष्ठ संख्या-187

34. वही, पृष्ठ संख्या-188

35. सं. आचार्य शुक्ल, रामचन्द्र, जायसी ग्रन्थावली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या-305

36. सं. आचार्य द्विवेदी, हजारीप्रसाद तथा त्रिपाठी, विश्वनाथ, सन्देश रासक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1975, पृष्ठ संख्या-189

37. वही, पृष्ठ संख्या-192

38. वही, पृष्ठ संख्या-161-162

39. वही, पृष्ठ संख्या-162

40. सं. आचार्य शुक्ल, रामचन्द्र, भ्रमरगीतसार, साहित्य सेवा सदन, बनारस, पृष्ठ संख्या-24

41. डॉ. सहगल, शशि, घनानंद का रचना संसार, अभिनव प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980, पृष्ठ संख्या-53

42. सं. मिश्र, विद्यानिवास, आलम ग्रन्थावली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण -2014, पृष्ठ संख्या-61

43. प्रसाद, जयशंकर, ग्रन्थावली (प्रसाद वांगमय, खण्ड-1), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1977, पृष्ठ संख्या-115

44. निराला, त्रिपाठी, सूर्यकान्त, परिमल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-172

45. सं. आचार्य द्विवेदी, हजारीप्रसाद तथा त्रिपाठी, विश्वनाथ, सन्देश रासक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1975, पृष्ठ संख्या-180

46. वही, पृष्ठ संख्या-180

47. सं. आचार्य शुक्ल, रामचन्द्र, जायसी ग्रन्थावली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या-305

48. सं. डॉ. नवल, नन्दकिशोर, निराला रचनावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1953, पृष्ठ संख्या-39

49. सं. मिश्र, विद्यानिवास, आलम ग्रन्थावली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण -2014, पृष्ठ संख्या-101

50. आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण-2016, पृष्ठ संख्या-95

51. सं. मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद, घनानंद कवित्त, वाणी वितान प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या-8

52. सं. आचार्य द्विवेदी, हजारीप्रसाद तथा त्रिपाठी, विश्वनाथ, सन्देश रासक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1975, पृष्ठ संख्या-159

53. वही, पृष्ठ संख्या-162

54. सं. आचार्य शुक्ल, रामचन्द्र, भ्रमरगीतसार, साहित्य सेवा सदन, बनारस, पृष्ठ संख्या-32

55. सं. मिश्र, विद्यानिवास, आलम ग्रन्थावली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण -2014, पृष्ठ संख्या-101

56. प्रसाद, जयशंकर, ग्रन्थावली (प्रसाद वांगमय, खण्ड-1), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1977, पृष्ठ संख्या-8

57. सं. मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद, घनानंद कवित्त, वाणी वितान प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या-84

58. सं. आचार्य द्विवेदी, हजारीप्रसाद तथा त्रिपाठी, विश्वनाथ, सन्देश रासक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1975, पृष्ठ संख्या-161

59. वही, पृष्ठ संख्या-164

60. वही, पृष्ठ संख्या-165

61. वही, पृष्ठ संख्या-168

62. सं. आचार्य शुक्ल, रामचन्द्र, जायसी ग्रन्थावली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या-305

63. सं. आचार्य द्विवेदी, हजारीप्रसाद तथा त्रिपाठी, विश्वनाथ, सन्देश रासक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1975, पृष्ठ संख्या-169

64. वही, पृष्ठ संख्या-164

65. सं. आचार्य शुक्ल, रामचन्द्र, जायसी ग्रन्थावली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या-303

66. सं. आचार्य द्विवेदी, हजारीप्रसाद तथा त्रिपाठी, विश्वनाथ, सन्देश रासक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1975, पृष्ठ संख्या-177

67. वही, पृष्ठ संख्या-177

68. सं. आचार्य शुक्ल, रामचन्द्र, जायसी ग्रन्थावली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या-304

69. सं. आचार्य द्विवेदी, हजारीप्रसाद तथा त्रिपाठी, विश्वनाथ, सन्देश रासक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1975, पृष्ठ संख्या-181

70. वही, पृष्ठ संख्या-182

71. वही, पृष्ठ संख्या-193

72. वही, पृष्ठ संख्या-192

73. अनामिका, स्त्री-विमर्श की उत्तर-गाथा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या-45

पंचम अध्याय

स्त्री स्वातन्त्र्य और विद्यापति की राधा

साहित्यकार युगीन समाज से प्रभावित होता है और वह साहित्य के बल पर तत्कालीन समाज को प्रभावित भी करता है। नारी भारतीय सभ्यता और साहित्य का केन्द्र बिंदु रही है। समाज की उन्नति एवं प्रगति में नर और नारी अपनी अहम भूमिका निभाते हैं। हिन्दी काव्य में नारी वीरांगना, विरहिणी, कामिनी, वात्सल्य की मूर्ति, भोग्या आदि विविध रूपों में देखने को मिलती है। समाज द्वारा खींची गई विभिन्न लक्ष्मण रेखाओं के बावजूद नारी अपनी अस्मिता, स्वाभिमान एवं स्वतंत्र सत्ता के लिए संघर्षरत रही है।

विद्यापति को हिन्दी साहित्य परंपरा में राधा-कृष्ण की प्रेम लीला का प्रवर्तक माना जा सकता है। इनके राधा-कृष्ण देवता न होकर सामान्य मनुष्य के रूप में हमारे सामने आते हैं। विद्यापति ने राधा का चित्रण जन परंपरा में प्रचलित कथाओं और गीतों के आधार पर किया है। उनकी राधा अनेक रूपा हैं। उन्होंने संयोग और वियोग की परिस्थितियों और उन परिस्थितियों में प्रेम विभोर युवक-युवतियों के सभी भावों का संश्लिष्ट वर्णन किया है। विद्यापति ने नायिका के आंतरिक भावों के साथ-साथ बाह्य चेष्टाओं का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। उनकी वृत्ति वियोग की अपेक्षा संयोग में ही अधिक रमी है। उनकी राधा में भाव तथा अनुभावों की प्रधानता है, वयःसंधि, अभिसार और सद्यःस्नाता के सजीव चित्र हैं तथा अभिसारिका के मार्ग में कठिनाईयों के अत्यन्त भयप्रद रूप हैं।

नारी-सौन्दर्य के पारखी महाकवि विद्यापति उन शृंगारिक कवियों में नहीं आते, जिनका यह विश्वास था कि 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान' वरन् विद्यापति उन कवियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनके विचार अंग्रेज कवि बायरन की इस पंक्ति से मिलते हैं – "यौवन के दिन ही गौरव के दिन हैं।"(1) इसी कारण रामकुमार वर्मा भी लिखते हैं, "विद्यापति ने अन्तर्जगत का उतना हृदयग्राही वर्णन नहीं किया जितना बहिर्जगत का।"(2) संस्कृत तथा अपभ्रंश के कवियों की भाँति ही विद्यापति ने भी नारी-सौंदर्य और प्रेम के आकर्षक रूप को ही नारी का पर्याय माना। उन्हें संयोग पक्ष में रमाने वाला सबसे सशक्त बल उस युग के दरबारी क्रिया-कलापों का था। डॉ. शिवप्रसाद सिंह लिखते हैं, "वे एकाधिक रानियों, राजकुमारियों के सम्पर्क में आये जहाँ असली सौंदर्य उपेक्षित था, बाह्य रूप की पूजा होती थी। उन्होंने उस सौंदर्य को देखा जो दरबारों में एकत्रित किया जाता था।"(3)

राधा के लोकातीत रूप का वर्णन करने के लिए विद्यापति ने सामान्य लोक पद्धति को अपनाया। राधा अद्वितीय रूप-यौवन से सम्पन्न रमणी हैं। आते-जाते माधव के प्रति रूप लिप्सा उसमें जाग उठी। दूती के मुख से कृष्ण के रूप गुण की प्रशंसा सुन उनमें पूर्वानुराग उत्पन्न होता है। वह कृष्ण को पाने के लिए आकुल होती है और उसकी यही आकुलता काम पीड़ा की दशा तक पहुँचती है।

विद्यापति को अन्य वियोगी कवियों की भाँति अपने समस्त कार्य मन की उड़ान अथवा कल्पना के सहारे नहीं करने पड़े क्योंकि उनके नायक-नायिका दूर-दूर नहीं थे, जिनमें व्यग्रता और औत्सुक्य अधिक होता है। उनके कृष्ण और राधा इतने समीप हैं कि कभी राधा स्वयं में कृष्ण के दर्शन करती हैं तो कभी कृष्ण स्वयं में राधा का। विद्यापति के काव्य में पूर्वराग, मानजनित एवं प्रवास-जनित तीनों का ही अपूर्व सम्मिश्रण मिलता है, जिसके कारण वे संयोग की ओर ही अधिक आकर्षित रहे हैं।

राधा के नखशिख वर्णन में कवि ने इसके सुदीर्घ परम्परा के अनुसार नारी के अंग-प्रत्यंग का सविस्तार वर्णन किया है। उसके केशों, मुख, नयन, ध्वनि आदि का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि नायिका के अनुपम मुख सौन्दर्य से लज्जित होकर चन्द्रमा आकाशवासी हो गया, आँखों के भय से हिरण, ध्वनि के भय से कोयल और चाल के भय से हाथी ने वनवास ले लिया। उसके स्वस्थ मांसल उरोजों का वर्णन करते हुए कवि लिखता है –

"कुच जुग उपर चिकुर फुजि पसरल ता अरुझाएल हारा।
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल चाँद बिहिन सब तारा।।"(4)

नायिका के केश उसके वक्षस्थल पर फैल गए हैं। गले में पड़ा हार केशों में इस प्रकार उलझ गया है मानो समस्त तारे चन्द्रमा की अनुपस्थिति में सुमेरु पर उदित हुए हों।

प्रेमोन्मत्तता की दशा में नायिका की चेष्टाएँ देखते ही बनती हैं –

"गेलि कामिनी गजहु गामिनी, विहसि पलटि निहारि।
इन्द्रजाल कुसुम सायक, कुहुकि भेल वर नारि।।
पुनहि दरसन जीव जुडाएव, टूटत विहरक ओर।
चरन जावक हृदय पावक, दहत सब अंग मोर।।"(5)

एक दूती राधिका को देखकर उसके रूप का वर्णन कृष्ण से करती हुई कहती है –

"पीन पयोधर दूबरि गता, मेरु उपजल कनक लता।
ए कान्ह ए कान्ह तोरि दोहाई, अति अपरूब देखलि राई।
मुख मनोहर अधर रंगे, फुललि मधुर कमल संगे।
लोचन जुगल भृंग अकारे, मधु मातल उड़ए न पारे।
भउँहुक कथा पूछह जनू, मदन जोड़ल काजर-धनू।"(6)

कवि ने मानव-सौंदर्य के साथ-साथ प्रकृति-सौंदर्य का भी चित्रण किया है। इसलिए ही कवियों के बारे में कहा जाता है कि वह जड़ और चेतन के गर्भ में छिपे सौंदर्य का उद्घाटन करने में निरन्तर प्रवृत्त रहा है। लोभी पुरुषों के लिए मानवीय अतृप्ति का संकेत करते हुए कवि ने लिखा है –

"जनम अबधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल।
सेहो मधुर बोल स्रवनहि सूनल स्रुति पथ परस न गेल।।"(7)

राधा और कृष्ण के रूप की यही विशेषता रही है कि उनके स्वरूप को देखते हुए मनुष्य थकता नहीं और ना ही विद्यापति राधा और कृष्ण के सौंदर्य को अनिर्वचनीय कहकर अन्य कवियों की भाँति कल्पना में थकते हैं, रूप पर बलि-बलि नहीं जाते, बल्कि इस सौंदर्य को नाना-रूपों में निखरते रहने की इच्छा से उसकी अर्चना किया करते हैं।

वस्तुतः विद्यापति के पदों में प्रेम का चाहे जो भी प्रसंग हो, नायिका अपनी कुछ विशेषताएँ लिए हुए मिलती है। शास्त्रीय दृष्टि से उनकी नायिका को चाहे जिस भी श्रेणी में रखा जाए, परन्तु उसमें कुछ बातें सामान्यतः एक समान मिलेंगी, जैसे – पूर्ण आत्म-समर्पण का भाव, सरलता, बदलती स्थिति से समझौता, अपने कुलमन्ती होने की चेतना, प्रेम की निश्छलता, सहज स्वाभाविक ग्रामीण अकृत्रिमता तथा मन के साथ-साथ शरीर की आवश्यकताओं के प्रति सजगता। विद्यापति को नारी जीवन के हर पहलू, परिस्थिति, स्वभाव, मनोविज्ञान, वयःप्रधान दैहिक और मानसिक परिवर्तन का यथार्थ ज्ञान है।

विद्यापति ने अपने पदों में अधिकांशतः शृंगार के संयोग-पक्ष का ही वर्णन किया है क्योंकि उन्हें स्थूल जगत के प्रति विशेष आस्था होने के कारण अन्तर्जगत की वृत्तियाँ कम सूझी हैं। डॉ. शिवप्रसाह सिंह कहते हैं, "विद्यापति ने सैकड़ों प्रकार के रूप देखे। रानियों-राजकुमारियों के, नर्तकियों के, ग्राम बालाओं के, सद्यस्नाता नारियों के, किन्तु इस रूप ने उनके मन में एक ऐसे रूप-दर्शन की प्यास जगाई जो भोक्ता की तरह मांसल रूप के संपर्क से तृप्ति-लाभ नहीं चाहती बल्कि एक ऐसी नैसर्गिक पीड़ा को जन्म देती है, जो कवि के मन को व्याकुल कर देती है।"(8) पदावली की नायिका का विरह दो प्रकार से निरुपित हुआ है। प्रथम, नायिकाएँ अपनी पीड़ा स्वयं व्यक्त करती हैं और उस पीड़ा-वेदना-दुःख के कारण को भी प्रकट करती हैं। उनके प्रेम की विकलता और विह्वलता को हम तीक्ष्ण आवेग के रूप में देखते हैं। दूसरे, विद्यापति ने स्वयं अथवा सखियों द्वारा नायिकाओं तथा राधा की वियोग-दशा का वर्णन किया है। वियोग वर्णन के प्रसंग में रामवृक्ष बेनीपुरी कहते हैं, "विद्यापति का विरह-वर्णन प्रेमिका के हृदय की तस्वीर है, उसमें वेदना है, व्याकुलता है, प्रियतम के प्रति तल्लीनता है, कोरी हाय-हाय वहाँ नहीं है।"(9) उनकी विरहिणी नायिकाओं में नववयस्क तरुणियाँ भी हैं और प्रौढ़ाएँ भी।

एक पद में कृष्ण के न आने पर राधा अपनी सखि से शिकायत भरे लहजे में कहती हैं, हे सखी! मेरे प्रिय (कृष्ण) हृदय के इतने कठोर हैं कि वे आज भी नहीं आए –

"सखि मोर पिया, अबहुँ न आओल कुलिस-हिया।"(10)

डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने विद्यापति की राधा के चरित्र का वर्णन करते हुए लिखा है, "मैं नहीं जानता कि किसी दूसरे कवि ने अपनी नायिका को एक साथ इतना मांसल, इतनी विदग्ध, इतनी सरल, सुन्दर, नारीत्वपूर्ण कामिनी, सारे विक्षोभकारी सौंदर्य उपकरणों की मूर्ति, इतने स्पष्ट हृदय वाली दूध की तरह चंचल, और स्वस्थ, पृथ्वी की गन्ध की तरह मुग्ध करने वाली, विद्युत की तरह चंचल, धरती की तरह क्षमाशील, ग्रामीणा की तरह निश्छल और साथ ही कीर्ति की तरह आकर्षण, शुभ्रा-ज्योति की तरह शान्तिदायिनी, विरह पीड़ित, शची की तरह पवित्र और पार्वती की तरह साधनारत बनाया होगा।"(11)

विद्यापति ने प्रेम प्रसंग में राधा और कृष्ण को एक समान दृष्टि से प्रस्तुत किया है। दोनों में एक-दूसरे के प्रति प्रेम और एक सा भाव दिखाई देता है। राधा इतनी प्रेम परायणा है कि प्रियतम का क्षणिक वियोग भी उन्हें सह्य नहीं है। प्रेम तल्लीन राधा विरहवश अपने को ही कृष्ण समझ लेती है और राधा-राधा पुकारने लगती है। पुनः जब चेत होता है तो कृष्ण के लिए व्याकुल हो जाती है। यह प्रेम की पराकाष्ठा है। दोनों अवस्थाओं में उसकी मर्म व्यथा दिखाई देती है –

"अनुखन माधव माधव सुमिरत सुन्दरि भेल मधाई।
जो नित्र भाव सभावहि विसरल आपन गुन लुबुधाई।।
माधव, अपरूप तोहारि सिनेह।
अपने विरह अपन तनु जर जर जिबइते भेल सन्देह।।
भोरहिं सहचरि कातर दिठि हेरि छल छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा कहु बानि।।
राधा सयें जब पुनतहि माधव, माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत बाढ़त विरहक बाधा।।
दुहु सिद दारु दहन जैसे दगधइ आकुल कीट परान।
ऐसन वल्लभ हेरि सुधा मुखि कवि विद्यापति मान।।"(12)

अनेक विद्वानों का मत है कि विद्यापति ने राधा-कृष्ण के लौकिक प्रेम का वर्णन किया है। कृष्ण नागर हैं, राधा नागरी। डॉ. रामकुमार वर्मा का कथन है, "विद्यापति ने जो राधा-कृष्ण का चित्र खींचा है, उसमें वासना का रंग बहुत ही प्रखर है। आराध्य देव के प्रति भक्त का जो विचार होना चाहिए, वह उसमें लेशमात्र भी नहीं है। सख्य भाव से जो उपासना की गई है, उसमें कृष्ण तो यौवन में उन्मत्त नायक की भाँति हैं और राधा यौवन की मदिरा में मतवाली एक मुग्धा नायिका की भाँति। राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय प्रेम है। आनन्द ही उसका उद्देश्य है और सौन्दर्य ही उसका कार्यकलाप। यौवन से ही जीवन का विकास है।"(13)

वे आगे लिखते हैं, "राधा का शनैः शनैः विकास, उसकी वयःसंधि, दूती की शिक्षा, कृष्ण से मिलन, मान-विरह आदि उसी प्रकार लिखे गए हैं, जिस प्रकार किसी साधारण स्त्री का भौतिक प्रेम विवरण। कृष्ण एक कामी नायक की भाँति हमारे सामने आते हैं। कवि के इस वर्णन में हमें जरा भी ध्यान नहीं आता कि यही राधा-कृष्ण हमारे आराध्य हैं। उनके प्रति भक्ति भाव की जरा सी सुगन्ध नही है। कृष्ण और राधा साधारण पुरुष-स्त्री हैं। राधा तो उस सरित के समान है जिसमें भावनाएँ तरंगों का रूप लेकर उठा करती हैं। राधा स्त्री है केवल स्त्री है और उसका अस्तित्व भौतिक संसार में है। उसका बाह्यरूप जितना आकर्षक है, उतना आंतरिक नहीं।"(14)

विद्यापति की रचना में दो कोटि का प्रेम दृष्टिगोचर होता है। एक तो राधा-कृष्ण और दूसरे साधारण नायक-नायिका। विद्यापति की राधा देवी नहीं बल्कि मनुष्य रूप में है। अनंत इच्छाओं से भरी एक सामान्य युवती जो अपने प्रिय से मिलन के लिए व्याकुल है। नायिका का कहना है, जब समय पर प्रिय से मुलाकात न हो तो इस यौवन का क्या लाभ? इस प्रकार की उत्कंठा भक्त को अनुचित लग सकता है, परन्तु प्रेम में व्याकुल नारी के लिए मर्यादा और नैतिकता से बड़ा अपने प्रेमी से मुलाकात करने की छटपटाहट होती है और विद्यापति यही नायिका की बात और व्यथा को वर्णित करते हैं।

प्रेम के साथ दुःख और मान का अन्योन्याश्रित संबंध है। राधा को दारुण मानिनी के रूप में चित्रित किया गया है। सखी आकर राधा के मान का वर्णन करती हुई कृष्ण से कहती है कि हे कृष्ण! राधा तुमसे इतनी नाराज है कि वह तुम्हारा नाम भी नहीं सुनना चाहती है –

"माधव दुरजए मानिनी-मान।
विपरित चरित्र पेखि चकरित भेल, न पूछलि आधहु बानि।।
तुअ रूप साम आखर नहिं सुनए, तुअ रूप रिपु सम मानि।
तुअ जन संग सम्भास करए नहिं, कइसे मिलाइव आनि।।"(15)

अंतरंगिनी सखी राधा का मान समाप्त करने हेतु प्रयत्नशील रहती है। वह राधा को समझाते हुए कहती है, कृष्ण की बुराईयों पर ध्यान न दे क्योंकि पति-प्यार से वंचित कभी सुखी एवं प्रसन्न नहीं रह सकती।

राधा इस तथ्य से भली-भाँति अवगत हैं कि वियोग कितना हृदय-विदारक एवं दुःख दायक है। कृष्ण के व्यवहार से अत्यधिक दुखी राधा सखी से कहती हैं, मुझे समझाने का व्यर्थ प्रयास कर नाहक तंग मत करो –

"सजनी अपद न मोहि परबोध।
तोड़ि जोड़िअ जहाँ, गांठ पड़ए तहाँ, तेज तम परम निरोध।।"(16)

राधा ईश्वर से प्रार्थना करती है कि पुत्री का जन्म न हो। यदि जन्म हो भी तो वह युवती न हो। यदि युवती हो तो कामिनी न हो, यदि कामिनी हो तो कुलवंती न हो। हे परमात्मा! मेरी प्रार्थना स्वीकारें मुझे स्थायित्व प्रदान करें। मेरा स्वामी चतुर एवं रसिक हो तथा वह पर नारी के वशीभूत न हो।

"जनम होअए जनु, जओं पुनि होइ।
जुबती भए जनमए जनु कोइ।
होइए जुबति जनु हो रसमंति।
रसओ बुझए जनु हो कुलमंती।
निधन माँगओं बिहि एक पए तोहि।
थिरता दिहह अबसानहु मोहि।
मिलओ सामि नागर रसधार।
परबस जन होअ हमर पिआर।
परबस होइह बुझिह बिचारि।
पाए बिचार हार कओन नारि।"(17)

मात्र राधा ही कृष्ण के विरह से व्यथित नहीं हैं अपितु कृष्ण भी राधा विरह में उतने ही आकुल-व्याकुल हैं। अपनी व्याकुलता का वर्णन करते हुए राधा की सखी से कहते हैं कि एक ही शैया पर किसी ओट को मन में क्षण भी नहीं सह पाता था तथा हम दोनों के शरीर भिन्न रहते थे। मन एक होता था। उस अवस्था में पुलक का अन्तर भी पर्वत के अन्तर के समान कष्टकारक अनुभव होता था। आज राधा मुझसे दूर है। मेरे प्राण जीवित रहकर इस कठोर वेदना को सह रहे हैं। राधा बिना तो मुझे मथुरा का अपार वैभव भी सूना एवं दुखदाई प्रतीत होता है-

"तिल एक सयन ओत जिउ न सहए, न रहए दुहु तनु भीन।
मांझे पुलक गिरि अंतर मानिए, अइसल रह निसि दीन।।
सजनी कोन परि जीवए कान।
राहि रहल दुर हम मथुरापुर, एतहु सहए परान।।
अइसन नगर अइसन नब नागरि, अइसन संपद मोर।
राधा बिनु सब बाधा मानिए, नयन न तेजिए नीर।।"(18)

विद्यापति नारी सौन्दर्य के चतुर चितेरे हैं। जिनका मन नारी-सौन्दर्य का चित्रण करने में कभी नहीं अघाया है। वे क्षण-क्षण परिवर्तनीय, वृद्धिमान, निरंतर नूतनता ग्रहण करने वाले सौन्दर्य की भूरि-भूरि अर्चना करते रहते हैं। नारी-रूप का समन्वित वर्णन अति श्लाघनीय एवं संश्लिष्ट है। राधा के अंग-प्रत्यंग वही हैं लेकिन सौन्दर्य दर्शन समग्रता की अपेक्षा करता है। विभक्तता अथवा खंडता में सौन्दर्य न होकर अखंडता में होता है। विभिन्न अंगों का संयोजन तथा नियोजन करके जिस मनोहर रूप की रचना विद्यापति द्वारा की गई है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है।

अत्यन्त रूपवती राधा के निर्माण में ब्रह्मा ने संपूर्ण विश्व सौन्दर्य सार नियोजित कर दिया है जिसके परिणामस्वरूप राधा समस्त प्राणियों के मन में प्रीति उत्पन्न कर देती हैं तथा उन्हें आनन्द विह्वल बना देती है –

"देख-देख राधा-रूप अपारा।
अपरूब के विहि आनि मिलाओल, खिति तल लाबनि-सार।।
अंगहि अंग अनंग मुरछायत हेरए पड़ए अथीर।
मनमथ कोटि मथन करु जे जन से हेरि महि मधि गीर।।"(19)

विद्यापति की राधा में आधुनिक स्त्री चेतना के स्वर देखे जा सकते हैं। कई पदों में वह कृष्ण को भला-बुरा कहती हैं तथा उसे वचन को न मानने वाला बोलती हैं। एक जगह पर दूती कृष्ण को बोलती है, हे कृष्ण! तुम अपने वचन का निर्वाह नहीं करते हो उसे भूल जाते हो। किसी अन्य के रूप का लोभ होते ही स्नेह दूर चला गया। तुमने पहले के उस स्थिर भाव को छोड़ दिया। हे माधव! वह सुन्दरि रोकर सन्देश भेजती है, हे चंचल! कान खोलकर सुनो अपनी विपत्ति में कोई साथ देने वाला नहीं। मैं आशा देकर उस कुलवती पर-प्रेयसी नारी को

ले आई। वह उतने से ही चली गई। सभी स्त्रियाँ डायन के समान उसके पीछे पड़ गईं। अपने हृदय में तुम इन दोनों का विचार करो।

"तोहरा पेम लागि धनि खिनि भेलि,
तोहे बड़ बोलछड कान्ह।
रूप लोभ भेल नेह दूर गेल,
से थिर छाडल भाव।
माधव सुन्दरि समन्दए रोए,
जदि तोहे चंचल सुनह सकन भए।
अपना धन्ध न कोए।।
आस दइए पर पेअसि आनलि,
कुलँ सओ कुलमति नारि।
से ततबाहिं गेलि डाइन सकल भेल,
दुहु हल हृदअ विचारि।
दूति बोलइते कान्ह लजाओल।।"(20)

एक पद में राधा मान करके बैठी हुई हैं। आदिकाल के काव्यो में दूती का बड़ा महत्त्व होता है। दूती एक जगह राधा को समझाते हुए कहती है, हे राधा नया कामदेव है, नई सुवास से युक्त मलयानिल बह रहा है। नई नागरिकाएँ और नागर विलास कर रहे हैं। पुण्य के प्रताप से सभी सब कुछ पाते हैं। हे मानिनी! अब तुम्हारा मान क्या? अपना मान ही आग बनकर बैठ गया है और मदन भण्डार को लूट रहा है। इतने दिनों तक जबकि कामदेव कम था, भले ही तुमने मान कर रखा था, किन्तु अब सदेह कामदेव दिखाई पड़ रहा है। इतने दिनों तक तुमने मान कर रखा था, बोलती भी नहीं थी, किन्तु जब कामदेव प्रबल हुआ, अवसर आ पड़ा, तब कहने आई हो।

"नव रतिपति नव परिमल लागर।
नव मलआनिल धाब।।
नावि नागरि नव नागर बिलसए।
पुनफले सबे सबे पाब।।
मानिनि आब कि मान तोहार।

आपन मान पावक भए पइसल,
लुलए मदन भण्डार।।
एतदिन मान भलेहुँ तोहें राखल,
पंचवान छल थोल।
अबे अनंग हे सरीरी देखिअ,
समअ पाए कि बोल।।"(21)

कृष्ण राधा की सुन्दरता की उपमा अनेक वस्तुओं से देते हैं। वे कहते हैं तुम्हारी आँखों की सीमा जन्मजात सुन्दर है। उसे काजल से आँजकर भयंकर मत करो। कस्तूरी की स्याही का तिलक देकर अपने मुख के समान चन्द्रमा को मत बनाओ। हे सुन्दरी! बहाना छोड़कर चलो। बड़े पुण्य से साथ मिलता है। तुम्हारे शरीर से वैसे ही सौरभ फैल रहा है फिर अंगराग से क्या प्रयोजन और यदि दोनों प्रेमी और प्रेमिका के मन में अनुराग हो तब तो और भी नहीं। सखियों के साथ रंग-रभस का त्याग करो। कारण वाचाल और सुजन का संग कहाँ? अर्थात् तुम्हारी सखियाँ वाचाल हैं। इनसे बचकर रहो।

"सहज सुन्दर लोचन सीमा।
काजर अंजने न करु भीमा।।
तिलक दए मृगमद मसी।
बदन सरिस न कर ससी।।
चलहिं सुन्दरि तेजी बेआज।
सुकृते मिल सुपहु समाज।।
पसर सौरभ की अंगरागे।
उभअ मन जदि अनुरागे।।
परिहर सखि केर रंग।
मुखर सुजन कहा संग।।"(22)

मानवीय भावना मूलरूप में सदा अपरिवर्तित रहती है, परन्तु देश-काल के प्रभाव से उसके बाह्यरूप में परिवर्तन होता रहता है। विभिन्न युग के दार्शनिक मान्यता, धार्मिक विश्वास, नैतिक आदर्श, सामाजिक रीति-रिवाज और साहित्यिक रुढ़िवाद के फलस्वरूप प्रणय भावना के बाह्यस्वरूप, उसके आचार पद्धति तथा उसकी

साहित्यिक अभिव्यंजना-शैली में यथेष्ट अन्तर आ जाता है। भारतीय प्रेमभावना की परंपरा में वैदिक युग से लेकर अद्यपर्यंत प्रेम की विभिन्न प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। उसके विभिन्न स्वरूप के विकास का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है।

पारस्परिक साहचर्य से उपलब्ध आनन्दानुभूति को प्रेम कहा जाता है। वस्तुतः प्रेम एक ऐसी भावनात्मक अनुभूति होती है जिसे शब्दों के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता। विद्यापति प्रेम एवं सौन्दर्य के कवि हैं। यही कारण है जो उन्हें शृंगार रस के त्रिभुवन सार, सभी संसार के सार आदि कहकर उनकी महत्ता का परिचय दिया जाता है। विद्यापति की विभिन्न रचनाओं में प्रेम के विभिन्न स्वरूप का चित्रण हुआ है। एक में विवाहित जीवन की मर्यादा से परिपूरित दाम्पत्य प्रेम का चित्रण हुआ है तो दूसरे में एक नायक के अनेक रमणीयों संग विलास का चित्र प्रस्तुत किया गया है। विद्यापति के गीति पद में परकीया प्रेम के दो रूप प्राप्त होते हैं- एक गोपी-कृष्ण सम्बन्धी और दूसरा सामान्य समाज-सम्बन्धी। गोपी-कृष्ण संबंधी परकीया प्रेम को बंगला-वैष्णव उपासना में माधुर्य भाव की भक्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माना गया है। चण्डीदास आदि भक्त कवियों ने राधा के परकीया रूप को ही स्वीकार किया है। ब्रज के भक्त राधा को स्वकीया मानते हैं, जबकि कृष्ण, ब्रज भक्ति में बहुवल्लभ तथा अनेक ब्रजांगनाओं के भोक्ता के रूप में दिखाई देते हैं। विद्यापति ने राधा और कृष्ण के इसी रूप और परकीया प्रेम को गीतगोविन्द से उत्तराधिकार में प्राप्त किया है।

राधा प्रतीक्षा में रात बिता देती है, अपने आपको साज सज्जित कर कृष्ण की प्रतीक्षा करती हैं और रात प्रतीक्षा में ही समाप्त हो जाती है। पूरी रात अन्य कामिनी के संग रमण करने के बाद सुबह में जब कृष्ण आते हैं तब राधा की व्यथा क्रोधाग्नि रूप में फूट पड़ती है -

"सहस रमनि सौं भरल तोहर हिय करू तनि परसि न त्यागे।
सकल गोकुल जनि से पुनमति धनि कि कहब तन्हिक भागे।
पदवाजक हृदय भिन अछ अरु करज खत ताहे।
जाहि जुवति संगे रअनि गमोलह ततहि पलटि बरु जाहे।
नयनक काजर अधरे चोरा ओल नयन अधर कहु रागे।
बदलल वसन नुकाओब कतखन तिल एक कैतव लागे।।"(23)

कृष्णानुरक्त नायिका भेंट करने के लिए छटपटा रही है। ना सास-ससुर की कोई चिन्ता ना पहरे का कोई भय। वह सब बाधा-बन्धनों को तोड़कर कृष्ण से भेंट करने के लिए बाहर जाती है –

"लाज जनिक जन चउदिस गरज घन सासु नहि तेजए गेहारे।

तइओ से चलल बुधि बले कउसल एत बड़ तोहर सिनेहा रे।"(24)

पति का अन्य स्त्री संग विलास को सुनकर, या देखकर, अनुमान कर पति के प्रति कोप प्रकट करने को ईर्ष्यामान कहा जाता है। इस संबंध में एक पद दृष्टिगत है-

"लोचन अरून बुझल बड़ भेद, रमनि उजागर गरुअ निवेद।
ततहि जाह हरि न करह लाय, रमनि गमा ओलह जन्हिके साथ।
कुच कुंकुम माखल हिय तोर, जनि अनुराग राँगि करु गोर।
आनक भूशन लागल अंग, उकुति बेकत होअ आनक संग।"(25)

इसी पद में खण्डिता नायिका का सुन्दर चित्र आता है, नायिका के मन अन्या-रति-चिन्ह्-दर्शन-, अन्या-नाम-कीर्तन से उत्पन्न नायक के प्रति जो ईर्ष्यामान उल्लिखित है, उसको नायिका, अपना सौभाग्य कहती है, इसी प्रकार नायक के आचरण पर मार्मिक व्यंग्य करती है –

"आध आध मुदित भेल दुहु लोचन।
वचन बोलत आध आधे।।
रति-आलस सामर तनु झामर।
हेरि पुरल मोर साधे।।"(26)

विद्यापति का सौन्दर्य वर्णन मात्र अपूर्व, अलौकिक और अपरूप नहीं, बल्कि सहज, स्वाभाविक, प्राकृतिक और सरल-सरस है। इस सौन्दर्य में कृत्रिमता और बनावटीपन का कोई भाव नहीं। ये वो मर्मस्पर्शी सौन्दर्य है जो सहज ही मन को मोह लेती है, तुरन्त हृदय को छू लेता है –

"सहजहि आनन सुन्दर रे, भौंह सुरेखलि आँखि।
पंकज मधु पिबि मधुकर रे, उड़ए पसारल पाँखि।।
ततहि धाओल दुहु लोचन रे, जतहि गेलि वरनारि।
आसा लुबुध न तेजए रे, कृपनक पाछु भिखारि।।"(27)

राधा शब्द का सबसे पहला प्रयोग कब हुआ, यह प्रश्न प्रायः साहित्य के विद्वानों को उद्वेलित करता रहा है। राधा किसी नारी का नाम नहीं बल्कि यह नारी जीवन की सम्पूर्ण गरिमा, समर्पण, प्रेम की अनन्यता तथा सम्पूर्ण सौन्दर्य और शील का अभिधान है। राधा भारती प्रेम-साधना की परिणति का नाम है। डॉ. शशिभूषण

गुप्त ने श्री राधा का क्रम विकास स्पष्ट करते हुए बताया है कि, "वेद में वर्णित पृथ्वी की इस देवी मूर्ति के साथ परवर्ती काल की विष्णु की भू-शक्ति की योजना स्मरण की जाती है। श्रुतियों में हमें शक्ति का लक्षणीय उल्लेख मिलता है। केनोपनिषद में जहाँ ब्रह्मशक्ति ही असल शक्ति है – वह शक्ति जो अग्नि, वायु, इन्द्र आदि सभी देवताओं के अन्दर क्रियमाण है। देवताओं को यही तत्व दिखाने के लिए साक्षात् ब्रह्मविद्या बहु शोभमाना हैमवती उमा के रूप में आकाश में आविर्भूत हुई।"(28)

विद्यापति की राधा अपनी अंतरंग सखियों अपनी काम-कला का बखान करती है। वह कृष्ण को गँवार और अज्ञानी बताती हुई कहती है –

"जे किछु कभु नहि कला रस जान,
नीर खीर दुहु करए समान।
तन्हिं सों कहाँ पिरीत रसाल,
वानर कंठ कि मोतिय माल।
भनइ विद्यापति इह रस जान,
वानर मुँह कि सोभए पान।।"(29)

मान का हिन्दी काव्य में बड़ा महत्त्व है। मान के माध्यम से प्रेमी के मन की अनन्यता का पता चलता है। कोई भी प्रेमिका यह कभी सहन नहीं कर सकती कि उसका प्रिय किसी और की ओर उन्मुख हो। विद्यापति ने राधा के माध्यम से मान के विविध परिस्थितियों का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। कृष्ण को कई अन्य नायिकाओं के साथ विलास करने वाला बताया है। कृष्ण के इस चंचल स्वभाव पर व्यंग्य करती हुई राधा कहती है –

"लोचन अरुन बुझल बड़ भेद,
रयनि उजागर गरुअ निवेद।
ततहि जाहू हरि न करह लाथ,
रयन्हि गमाओल जन्हिके साथ।
कुच कुंकुम माखल हिय तोर,
जनि अनुराग राँग करु गोर।"(30)

कृष्ण के किसी अन्य स्त्री के साथ केलि को देखकर राधा को क्रोध आता है। कृष्ण के लाल नेत्र उसका सारा रहस्य खोल देते हैं। राधा व्यंग्य करती हुई कहती है। जिसके साथ रात बिताई है, वहीं जाइए। पर-नारी के कुचों पर लगा अंगराग तुम्हारे हृदय को अनुराग से उज्जवल बना रहा है। राधा के इस व्यंग्यपूर्ण वक्तव्य पर कृष्ण सफाई देने की कोशिश करते हैं, राधा के सत्य वचन कुछ क्षण के लिए कृष्ण के मुँह को बाँध देते हैं, परन्तु कृष्ण भी इसमें नए नहीं थे, वे बोलते हैं –

"सुन सुन सुन्दर कर अवधान,
बिनु अपराध कहसि काहे आन।
पुजलौं पसुपति जामिनि जागि,
गगन विलम्ब भेलि तेहि लागि।
लागल मृगमद कुंकुम दाग,
उचरह मंत्र अधर नहिं राग।
रजनि उजागर लोचन घोर,
ताहि लाग तोहे बोलसि चोर।"(31)

विद्यापति की राधा में आधुनिक स्त्री स्वातन्त्र्य का स्वर देखा जा सकता है। कृष्ण द्वारा पर-स्त्री पर अनुरक्त होना राधा को क्रोधाग्नि से भर देता है, उनका प्रेमी किसी अन्य स्त्री के प्रति आकर्षित हो यह उन्हें अच्छा नहीं लगता तथा उनमें मान की उद्भावना होती है। वह कृष्ण को अनेक प्रकार से व्यंग्य कहती है, रुठती हैं तथा क्रोध में उन्हें भला-बुरा तक कह देती है। पदावली की राधा में सामान्य स्त्रियोचित्त सभी गुण विद्यमान हैं। विद्यापति के कृष्ण में भी कम मान नहीं है, उनके मान की कठोरता तो राधा के हृदय को कई प्रकार की स्मृतियों से विदग्ध कर देती है। वह इतनी दयनीय हो जाती है कि प्रिय की जगह स्वयं को ही दोषी समझने लगती है। वह कहती है कि क्या मैं साँझ का एकाकी तारा हूँ या भादो का चन्द्रमा। इनमें से किसके समान मेरा मुख हो गया जिसे कलंकित समझकर प्रिय मेरी तरफ देखते ही नहीं –

"की हम साँझ क एकसर तारा,
भादव चौथि ससि।
इथि दुहु माझ कयन मोर आनन,
जे पहु हेरसि न हंसि।।"(32)

राधा को पता था कि एक बार प्रेम टूटने पर वह जुड़ता नहीं। वह सखी से कहती हैं कि चिन्ता ने मेरी आसा को ग्रस लिया है। तुम्हारी बातें कर्णकटु लगती हैं अर्थात् प्रियतम को बिना बुलाए लौट आई। वह सखी से कहती हैं बारम्बार दूती भेजते हुए मन भी थक गया है, किन्तु प्रिय नहीं आए। आज मेरे लिए प्यार का दीपक बुझ गया। हे सखी! कितनी झंझट की बातें कहती हो। चुप रहो। बाँध बाँधने पर भी उनसे संबंध टूट गया अर्थात् प्रेम संबंध स्थापित करने पर भी वह स्थायी न रह सका। यह बात तुम जानती हो और दूसरे कृष्ण जानते हैं तथा तीसरे मेरे प्राण जानते हैं। कृष्ण जितने राग-अनुराग कर गए हों किन्तु आज वही गोप बुद्धिहीन के वध के भागी हुए।

"चिन्ताजे आसा कबललि मोरि,
कान कटु भेलि कहिनी तोरि।
मनञो फेदाएल अइसना काज,
पाबनि दीप निझाएल आज।
साजनि कह कत कहिनी धन्ध,
बन्ह ला बान्ध टुटल अनुबन्ध।
तजे जनितसि आओ दोसर कान्ह,
तेसर जनइत हमर परान।
जत अनुराग राग कैँ गेल,
सही गोप बधभाजन भेल।"(33)

प्रिय द्वारा उपेक्षित हृदय की इस आत्मग्लानि को स्पष्ट करने के लिए विद्यापति ने जो प्रतिमान प्रस्तुत किए हैं, वे रुढ़ और पारंपरिक नहीं लगते। इनके प्रतीक लोक से लिए गए हैं, इसी कारण ग्लानि की यह व्यंजना पाठकों पर अपनी मार्मिक अभिव्यंजना का पूरा प्रभाव डालती है। संयोग शृंगार की तरह विद्यापति वियोग वर्णन में भी बेजोड़ हैं। उनका विरह कहीं भी उपहासास्पद नहीं लगता। इसका मूल कारण है विद्यापति के द्वारा संयोग का स्थूल का चित्रण अर्थात् उनके मिलन संयोग के चित्रों की सजीवता उनके विरह पक्ष को ज्यादा स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होती है।

कृष्ण मथुरा चले गए। जिस कृष्ण के छल को सौभाग्य समझ राधा अपने को अहिवाती समझती थी, उसी ने उससे मुँह फेर लिया, कृष्ण को गए पूरा एक दिन बीत गया -

"गतौ यामौ यातौ यामौ गता

यामा गतं दिनम्
हा हन्त किं करिष्यामि न पश्यामि
हरेर्मुखन।।"(34)

कृष्ण की राह देखते-देखते पहर बीत गया, रात गई दिन गया पर कृष्ण नहीं आए और तब राधा को प्रतीत हुआ कि इस बार का विरह क्षणिक नहीं है, नियति ने क्रूर दृष्टि डाल दी है, कल आने का कहकर प्रिय गया था पर कल समाप्त नहीं हुआ। राधा सोचती है आखिर वह कब आयेगा –

"कालिक अवधि करिअ पिअ गेल,
लिखइते कालि भीति भरि गेल,
भले प्रभात कहत सबही,
कह कह सजनि कालि कबही।"(35)

एक अन्य पद में राधा की विरह दशा का चित्रण हुआ है, जिसमें वह कृष्ण के लिए सन्देश कहती हैं। क्या मेरी कामकला घट गई है ? क्या वे ही रस-परिपाटी नहीं समझते? क्या इसीलिए स्वामी ने पिशुन के वचनों पर कान दिया? इसीलिए विधाता ने उनसे समय पर मेरा व्यवधान कर दिया। हे भ्रमर! उनसे मेरा कुछ सन्देश कहना। कहना कि वसन्त में किसी के स्वामी विदेश में नहीं रहते। क्या भ्रमर वहाँ शब्द नहीं करते हैं? क्या कोयले वहाँ पंचम स्वर में मधुर नाद नहीं करती हैं? क्या कामदेव वहाँ धनुष-बाण सज्जित नहीं करता? क्या विरहियों के समाज में वहाँ विरहा नहीं गाया जाता है अर्थात् ये सब वहाँ भी होते हैं। इसलिए उन्हें आना ही चाहिए।

"की भेली कामकला मोरि घाटि,
की ओहे न बुझए रस परिपाटि।
ता खर वचन कन्ते दिहुकान,
तैँ बिहि करु मोर समअ बधान।।
भमर हमर किछु कहब सन्देस,
कन्त वसन्त न रहब विदेस।
की दहु भमर ततए नहि नाद,

पिक पञ्चम धुनि न नाद।
की धनु बान मदन नहि साज,
की बिरहा नहि विरहि समाज।।"(36)

राधा के लिए एक दिन की दूरी भी दुःसह था। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण के साथ-साथ राधा का सर्वस्व चला गया। प्रेम में संयोग जितना सुखदायक था विरह उतना ही दुखदायक था। वह सपने में देखती है कि उसके हाथ से पारसमणि छूट गया, वह किसी अन्य के धन से धनवती हुई थी, वह जिसका धन था उसके पास चला गया। जिस चाँद के लिए गोकुल हमेशा चकोर की भाँति देखा करता था, उस चाँद की चोरी हो गई है –

"सुतहु छलहुँ अपने गृह रे,
निन्दई गेलउँ सपनाई,
कर सौं छुटल परस मनि रे,
कोन गेल अपनाई,
गोकुल चान चकोरल रे,
चोरी गेल चन्दा,
बिछुड़ि चललि दुहुँ जोड़ी रे,
जीव दइ गेल धदा।।"(37)

पदावली के कई पदों में राधा द्वारा कृष्ण को उलाहना देते हुए देखा जा सकता है। राधा कृष्ण के लिए कहती हैं तुम्हारे हृदय को जानकर मैंने तुमसे प्राण के समान स्नेह किया। किन्तु तुम भला आदमी होकर भी वचन चूकते हो अर्थात् अपने वचन का प्रतिपालन नहीं करते हो, यही बड़ी हानि है। हे माधव! मैंने तुम्हारा स्नेह समझ लिया। निष्ठुर के साथ प्रेम करने से मैंने पराभव पाया जीवन में भी सन्देह हो गया। संसार में कौन नहीं जानता कि यह जीवन अस्थिर है और यौवन उससे भी थोड़ा है। तो भी यह निष्ठुर मन रोके नहीं रुकता, तुम्हें ही मानता है अर्थात् तुम्हारे ही पीछे दौड़ता है।

"जिव जञो हमे सिनेह लाओल,
तोहर हृदअँ जानि।
भल जन भए वाचा चूकह,
ई बडि लागए हानि।

माधव बुझल तोहर नेह,
निठुर पेम पराभव पाओल।
जीवहुँ भेल सन्देह,
अथिर जिवन जउवन थोला।
जगत के नहि जान,
मन निकारुन हटल न रह।
तइअओ तोहिहि मान।।"(38)

किसी भी रचना के विरह-वर्णन में सबसे महत्त्वपूर्ण होता है विविध आलम्बन तथा संचारियों का उचित प्रयोग करना। विद्यापति विरह के संचारी भावों के वर्णन में निपुण हैं। एक पद देखिए –

"सखि हे कतहु न देख मधाई,
काँप शरीर धीर नहिं मानस,
अवधि नियर भेलि आई
मृगमद चानन परिमल कुंकुम,
के गेल सीतल चंदा,
पिया विसलेस अनल सों लखिये,
विपति चिन्हिए भल मंदा,
भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति,
चित जनु झंखह आजे,
पिब विसलेस कलेस मेटाएट,
बालम विलसि समाजे।।"(39)

यह नहीं कहा जा सकता कि विद्यापति के विरह में अतीन्द्रिय पीड़ा नहीं है अर्थात् ऐसा नहीं है कि उनकी राधा कृष्ण मिलन के आंगिक सुखों को कभी नहीं सोचती है, सोचती है जैसे –

"सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसिज,
की सरसिज बिनु सूरे,
जीवन बिनु तन मन बिनु जौवन,

की जौवन पिय दूरे।।"(40)

मिलन के क्षणों की याद, राधा के मन में केवल आंगिक सुख की अनुभूति ही, इतने गहन विरह का कारण नहीं बनती। कुछ और बातें भी हैं जो राधा के मन को पीड़ा पहुँचा रही हैं –

"तेल बिन्दु जैसे पानि पसारिअ,
ऐसन मोर अनुराग,
सिकता जल जै छनहिं सुखए,
तैसन मोर सुहाग।।"(41)

पूरी प्रकृति में विपत्ति के बाद सुख का आगमन होता है। बिना पत्तों वाले वृक्षों पर नये पत्ते सुशोभित हो रहे हैं, परन्तु विरहिणी की आँखों में एक बार जो बरसात आई, वह फिर जाने का नाम नहीं लेती –

"विपत अपत तर पाओल रे,
पुनु नव नव पात,
विरहिन नयन दिहल विहि रे,
अविरल बरसात।।"(42)

इसी प्रकार एक अन्य पद में बरसात के माध्यम से विरह की दशा का वर्णन है। इसके माध्यम से ही राधा कृष्ण को गँवार, दुर्जन, अज्ञानी आदि नामों से सम्बोधित करती है। वह कहती है मेघ जोरों से बरस रहा है, मन प्रेम से भरा है, किन्तु मेरे स्वामी परदेश में हैं। वर्षा ऋतु की ऐसी रात। हाय! पुरुषों की जाति कैसी होती है कि ऐसी रात में भी गँवार घर छोड़ देता है। हे सखी! ऐसे दुर्जन का नाम मत लो। हे धन्ये! तुम सयानी हो, मेरे अपने प्राण के समान हो। इसीलिए तुमसे हृदय की बात कहकर चित्त को शान्त करती हूँ।

"बरिस सघन घन पेमे पुरल मन,
पिआ परदेस हमारे।
ऐसनि पाउस राति पुरुष कँ मन जाति,
गृह परिहरइ गमारे।।
सजनी दुर कर दुरजन नामे,
तोहहि सआनि धनि अपन परान सनि।

ते करिअ चित बिसरामे।।"(43)

एक स्थान पर राधा अपनी सखि से कृष्ण के बारे में बात करती हुई कहती है, मैंने कपट कोप से मान किया, किन्तु स्वामी को वक्र देखकर उसका समाधान कर दिया। अर्थात् मेरा मान वास्तविक नहीं, केवल कपट था। स्वामी को वक्र देखकर मैंने उसे भी छोड़ दिया। फिर भी स्वामी विरुद्ध हो गए। शिव-शिव! इसका कैसा परिणाम होगा? तुम्हें क्या कहूँ कि मेरे मन में कितना उपताप हो रहा है। यद्यपि सद्यः दर्शन होने पर अब वे हँसते हैं तथापि मैं क्या करुँ? उन्होंने स्वयं मेरे कण्ठ में बन्धन डाल दिया है। तुम मुझे गँवारिन की रीति पढ़ाती हो। मुझमें क्या अधिक गुण हैं, जो स्वामी प्रीति करेंगे अर्थात् स्वामी ज्ञानहीन हैं, नायिका ही सयानी है।

"कोपे कपटे कएल माने,
बांक निहारि कएल समधाने।
तथिहु नाथ भेल अबे वामे,
सिव सिव कइसन होएत परिनामे।
(चल चल दूति) कि कहब तोहि,
कत उपताप उपजु मन मोहि।
सोझ दरस अबे हासे,
अपनहिं कण्ठ कठिन भुजपाशे।
पढ़ाबञे पामरि रीती,
किदहु अधिक गुन जैँ पहु पिरीती।।"(44)

ऐसा प्रतीत होता है कि राधा की इस अपूर्व विरह-दशा को संभालने में विद्यापति भी असमर्थ हैं। वह कहते हैं मैं राधा का कभी प्रबोधन नहीं कर सकता, मदन सर-धारा में बहती हुई यह लड़की हमारे बचाये नहीं बच सकती –

"माधव कत परबोधब राधा,
हा हरि हा हरि कहतहिं वेरि वेरि,
अब जिउ करब समाधा,
धरनि धरिये धनि जतनहिं वइसइ,
पुनहिं उठाएं नहिं पारा,

सहजहिं विरहिनि जग मँह तापिनि,
बौरि मदन सर धारा,
अरुन नयन नोर तीतल कलेवर,
विलुलित दीघल केसा,
मन्दिर बाहर करइत संसय,
सहचरि गनतहिं सेसा।।"(45)

राधा कृष्ण को याद करते-करते स्वयं कृष्ण हो जाती हैं। इसे प्रेम का चरमोत्कर्ष माना जा सकता है, जहाँ राधा स्वयं तथा कृष्ण में कोई भेद नहीं कर पाती। वह अपने ही गुणों पर मुग्ध होती हैं, अपने ही विरह में राधा अपना ही शरीर क्षीण कर डाला है। विद्यापति कहते हैं कि जब राधा प्रेम में विभोर होती है तब अपने को कृष्ण समझकर राधा-राधा पुकारती है, परन्तु जब उसे होश आता है तो फिर कृष्ण-कृष्ण रटते हुए प्राणों को व्यग्र कर देती है। उदाहरण के लिए एक पद देखा जा सकता है –

"अनुखन माधव माधव सुमरइत,
सुन्दरि भेलि मधाई,
ओ निज भाव सुभावह विसरल,
अपने गुन लुबुधाई,
माधव अपरूप तोहर सनेह,
अपने विरह अपन तन जरजर,
जीवइति भेल सदेह,
भोरति सहचरि कातर दिठि हेरि,
छल छल लोचन पानि,
अनुखन राधा राधा रटइत,
आधा आधा वानि,
राधा सय जब राधा,
दारुन प्रेम तबहिं नहिं टूटत,
बाढ़त विरहक बाधा,
दुहु दिसि दारुन दहन जैसे दगधइ,

आकुल कीट परान,
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि,
कवि विद्यापति भान।।"(46)

विद्यापति ने पदावली में सिर्फ राधा को ही विरह में व्याकुल नहीं दिखाया है, बल्कि कृष्ण भी राधा के विरह में दुःखी होते हैं। राधा के वियोग में कृष्ण भी निरन्तर आँसू बहाते रहते हैं –

"एरे राधे जानि न जान, तोरे विरहे विमुख कान्ह,
तोरि चिन्ता तोरिए नाम, तोरिए कहनी कहे सब ठाम,
आओर की कह सिनेह तीर, सुमिर-सुमिर नयन भर नीर।।"(47)

एक पद में सखि राधा को समझाती है कि विरह के शोषण से कृष्ण के जीवन का सन्देह है। फिर भी तुम दृढ करके कपट का पोषण कर रही हो। उन्होंने तुम्हारे लिए सोलह हजार गोपियों का त्याग कर दिया। फिर भी उनके घर में तुम वणिक हो गई अर्थात् उनके साथ भी मोल भाव करने लगी। हे सखी! मैं क्या कहूँगी? कृष्ण स्वयं कहते हैं कि वे सबका त्याग कर तुम्हें ही चतुरा मानते हैं। समय के कारण सभी अनुरक्त नहीं हो पाते हैं। बिना अवसर के अनुराग करने से भले आदमियों के मन में भी बुरा वचन जग जाता है अर्थात् भले आदमियों के मन में भी बुरी बातें उत्पन्न होने लगती हैं। तुम्हारी चमक-दमक देखकर नागर अभी तुम्हारे पीछे-पीछे डोल रहा है। गुण के घट जाने पर यौवन के ढल जाने पर तुम वन तुलसी का फूल हो जाओगी अर्थात् जिस प्रकार वन तुलसी के फूल को कोई नहीं पूछता है, उसी प्रकार तुम्हें भी कोई नहीं पूछेगा।

"तन्हिं करि धसमसि विरहक सोस,
तञे दिढ कए कैतव पोस।
सोलह सहस गोपी परिहार,
तन्हिं काहुँ कुल भेलसि बनिजार।।
मञे कि बोलब सखि बोलइछ कान्ह,
सब परिहार नागरि तोहि मान।
समअक बसे नहि सब अनुराग,
भलाहुक मन मन्देओ पद जाग।
पिअरी दरसने नागर दूल,

घान्टू गुने वन तुलसी फूल।।"(48)

विद्यापति के कृष्ण और राधा देवता न होकर, सामान्य नायक-नायिका के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं। उनके कृष्ण राजकुमार नहीं, बल्कि सामान्य ग्वाल थे। एक जगह राधा कृष्ण पर व्यंग्य करती हुई कहती है कि यह कृष्ण कैसा मूर्ख है, कहीं कौड़ी से घोड़ा खरीदा जाता है या उधार माँगने से घी मिलता है। बैठने का स्थान नहीं, खाने को व्यंजन माँगता है। राधा को कृष्ण की हालत देखकर मजा आता है। वह कहती है कृष्ण का मिथ्या गौरव चूर-चूर हो गया। आकर पाँव के पास पुआल पर बैठ गया। बेचारा पूछने लगा, शय्या कहाँ लगी है। पास में फटी हुई चटाई और मन में पलंग। अहीरिनियों के नाथ की बात ही क्या कहना –

"कउड़ि पठओले पाव नहिं घोर,
घीव उधार माँग मति भोर,
बास न पावए माँग उपाति,
लोभ क रासि पुरष थिक जाति,
कि कहब आज कि कौतुक भेलि,
अपदहिं कान्ह क गौरव गेलि,
आयल वैसल पाँव पोआर,
सेज क कहिनी पूछये विचार,
ओछाओन खण्डतरि पलिया चाह,
अओर कहब कत अहिरिनि नाह।।"(49)

विद्यापति की राधा में मुखरता बहुत है। जहाँ भी उनको मौका मिलता है वह कृष्ण को उलाहने देने से नहीं चूकती। विरह से दग्ध होने पर राधा कहती है चन्द्रमा स्वभाव से ही शीतल था किन्तु वह भी सबसे नीच हो गया अर्थात् चन्द्रमा भी अपनी शीतलता त्यागकर नीच के समान सन्ताप देने लगा। वे नारी से विरह सहन करवाते हैं, सो प्राण से ही क्यों नहीं मार डालते हैं? हे सखी! मेरे लिए प्रिय को कहना कि अब भी विरह-रूपी आग को बुझा दें। दूसरे से प्रेम बढ़ाकर धन्या का अर्थात् मेरा कुलधर्म छुड़ा दिया।

"सहज सितल छल चन्द,
सब तह से भेल मन्द,
विरह सहाइअ नारि,

जिबे कके न हलिअ मारि,
सखि हे,
पिआ के कहब हम लागि,
अबहु मिझाइ अ आगि,
पर सञो पेम बढ़ाए,
धनि कुलधम्म छड़ाए।"(50)

आगे कहती हैं, परिजन और पुरजन के वचन-व्यवहार से अर्थात् कहने से मेरे प्रेमलुब्ध मन में विश्वास हो गया। अपना अपराध है। इसलिए दूसरे क्या कहेंगे? अर्थात् दूसरे को कहने की आवश्यकता नहीं। मैं स्वयं समझती हूँ कि यह मेरा अपराध है। कुमुद में मुझे कमल का भान हो गया। यह अनुभव करके मैंने वास्तव में समझा कि आँख रहते हुए भी मैं कूप में डूब गई। हे कृष्ण! यदि तुम जन्मजात विरागी हो तो मुझे अपना मुँह क्यों दिखलाया? फिर ऐसी प्रेम की बात मत बोलो। कारण किसी के खेल से किसी को निराशा होती है। तुम नहीं, नहीं बोलते हो, दूसरी स्त्री के पास नहीं गया था बोलते हो, क्रोध दिखलाते हो। पहले यत्न से सब कुछ जताकर अब छिपाते हो। किन्तु प्रत्यक्ष को छिपाओगे तो कौन विश्वास करेगा? अर्थात् तुम कितना भी कुछ करो मैं विश्वास नहीं कर सकती हूँ। भले ही काम-बाण से मेरे प्राण चले जाएँ।

"परिजन पुरजन वचनक रीति,
पेम लुबुध मन भेलि परतीति,
निअ अपरा बोलत की आने,
कुमुदहि भेल कमल के माने,
एहि अनुभवि मोञ बुझल सरूपे,
नअन अछइते निम जलिहु कूपे,
जदि तोहे माधव सहज विरागी,
लोचन गीम कएल कथि लागी,
पुनु जनु बोलह अइसनि भासा,
काहुक कउतुके काहु निरासा,
नहि नहि बोलह दरसह कोपे,

जतने जनाए करइ छह गोपे,
परतख गोपब के पतिआउ,
बरू मनमथ सरे जीवन आउ।।"(51)

एक जगह राधा कृष्ण के कपटी होने पर व्यंग्य करती हैं। मैं कपट का नजारा समझ नहीं सकी। इसीलिए अमृत के भ्रम में मैंने विष खा लिया। अब कौन उनका विश्वास करेगा? मैं समझ गई, काला आदमी सीधा नहीं होता है। हे सखी! कृष्ण की प्रशंसा क्या करती है? उनका वचन तो अमृत के समान है, किन्तु हृदय पत्थर है। कामबाण में भुलाकर मैं उनके मोह-जाल में जा पड़ी। कारण, उन्होंने आर्त्त होकर क्या नहीं कहला भेजा था अर्थात् कौन सी प्रतिज्ञा नहीं की थी? हे सखी! बोलने के लिए ही 'माधव' नाम भला है, काम के लिए नहीं, कारण परिणाम में वे बड़े वचन चूकने वाले हैं। अनुभव करके मैंने उनसे अपना संबंध दूर कर लिया। जिस प्रकार भौंरा स्वार्थवश फूल से मैत्री करता है, उसी प्रकार कृष्ण भी स्वार्थवश मैत्री करते हैं। इसीलिए, मैंने उनसे अपना संबंध दूर कर लिया।

"बुझहि न पारल कपटक दीस,
अमिय भरमे खाएल हम बीस,
अबे परतीति करत दहु कोए,
सामर नहि सरला सए होए,
ए सखि की परसं सह कान्ह,
बचन सुधा सम हृदय पखान,
मोहन जाल मदन सरे भोलि,
आरति की न पठओलन्हि बोलि,
बोलहिक भल सखि माधव नाम,
बडु बोलछड़ परजन्तक ठाम,
अनुभवि दूर कएल अनुबन्ध,
भुगुतल कुसुम भमर अनुसन्ध।।"(52)

वह आगे कृष्ण को सम्बोधित करते हुए कहती हैं कुमार्ग पर चलने के लिए शपथ करके कितना झूठ बोलते हैं? क्षण में वे मोहते हैं और क्षण में रुठते हैं। अरी मैया! मैं दुर्जन से मिलने के लिए नहीं जाऊँगी। कारण, काला आदमी सीधा नहीं होता है। मैं उनका रूप भी नहीं देखूँगी। कारण आँख रहते कैसे कुएँ में जा गिरूँगी।

"अपथ सपथ कए कह कत फूसि,
खन मोहे तखने रहत रुसि,
मोञे न जएबे माइ दुर जन संग,
नहि सरला सय सामर रंग,
अव लोकब नहि तनिक र रूप,
आँखि अछइते कइसे खसब कूप।।"(53)

हे कृष्ण! अच्छा हुआ कि तुमने मुझे किनारे कर दिया। तुमने काँच और सोना दोनों को बराबर करके लेखा किया। तुम रत्न का मूल्य नहीं जानते हो। तुम्हारा और मेरा प्रेम जितनी दूर तक बढ़ा, स्थिर होकर अब उसका स्मरण करो। अब तुम पराई स्त्री के प्रेम में भूल गए हो, इसलिए मेरे बिहँसने पर भी विरूद्ध हँसी हँसकर मेरी ओर देखते हो। मेरा ऐसा बुरा भाग्य है। इसीलिए यदि तुम मुझ अबला कुलनारी को भूल गए और चुगलखोरों का वचन यदि कान धरा तो विचार करके दण्ड नहीं किया।

राधा के चरित्र निर्माण में विद्यापति ने सामान्य ग्रामीण स्त्रियोचित्त गुणों का प्रयोग किया है। राधा के मुखर व्यक्तित्व में मुहावरों तथा कहावतों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। राधा तथा गोपियों की बातचीत में इसका प्रयोग दिखाई पड़ता है। इसका प्रयोग उदाहरण के माध्यम से देखा जा सकता है –

"सखि हे बूझल कान्ह गोआर,
पितरक टाँड़ काज दुहु कओन लहु,
ऊपर चकमक सार।।"(54)

राधा कहती है कि कृष्ण बिल्कुल गँवार है, यह मैंने आज जाना। पीतल का टाँड़ (आभूषण) ऊपर से सोने का मुलम्मा। यह चमक-दमक से कोई काम सरने वाला नहीं। इसी प्रकार एक और जगह राधा कहती है –

"तोहर वचन कूप धँस जोरल,
ते हम गेलिहुँ अबाटे,
चन्दन भरम सिमर आलिंगन,

सालि रहल हिय काँटे।।"(55)

तेरी झूठी बातों में पड़कर मैं कुएँ में कूद पड़ी, बेराह चली। चन्दन के भ्रम से मैंने सेहुँड़ को छाती से लगाया, 'हृदय में काँटे साल' रहे हैं।

"सुजन क वचन खोट नहिं लाग।
जिन दृढ़ करु आलता दाग।।"(56)

सृजन के कड़े वचन में कभी-कभी नहीं-जाता, जैसे अच्छी तरह लगाया हुआ आलता का दाग जल्दी नहीं छूटता।

राधा की तरह ही गोपियों में भी मान का रूप देखा जा सकता है। स्त्री स्वातन्त्र्य का का रूप प्रायः पदावली के अधिकतर पदों में दिखाई देता है। मान, व्यंग्य, पूर्वराग, क्रोध आदि के माध्यम से राधा का चरित्र एक आधुनिक स्त्री के रूप में उभरकर हमारे सामने प्रस्तुत होता है। एक जगह मानिनी गोपी अपनी सखी से कहती है कि उस मूर्ख ने कमल का अभिनव पुष्प नीम के दोने में फेंक दिया, जो वहीं सूखकर बिखर गया।

"अभिनव एक कमल फुल सजनी,
दोना नीम क डार,
सेओ फूल ओतहि सुखायल सजनी,
रसमय फुलक नेवार।।"(57)

एक अन्य पद में गोपी एक रात का अनुभव सुनाती हुई गँवार कृष्ण की जो विशेषताएँ बताती है, वह इस प्रकार है –

"कि कहब हे सखि रात क बात,
मानिक पड़ल कुबानिक हात,
कांच कंचन नहिं जानए मूल,
गुंजा रतन करए समतूल,
तन्हिं सौं कहाँ पिरीत रसाज,
वानर कंठ की मोतिम माल,
भनइ विद्यापति इह रस जान,
वानर मुँह की सोभए पान।।"(58)

विद्यापति की पदावली पर जयदेव के 'गीतगोविन्द' का प्रभाव देखा जा सकता है। गीतगोविन्द में भी राधा के संयोग और वियोग के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। जयदेव ने संयोग और वियोग दोनों रूपों का स्थूल वर्णन किया है। आशा, निराशा, उत्कण्ठा, प्रणयजन्य ईर्ष्या और मिलन-प्रेम की विविध दशाओं का राधा और कृष्ण के प्रणय में हृदयग्राही चित्रण हुआ है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जयदेव की प्रेममयी हृदय वाली राधा के बारे में कहा है, "राधिका के पूर्व राग और भाव के समय जो प्रेम दिखाई देता है, यह कोई बाधा नहीं मान सकता। शुरु में ही देखते हैं, वसन्त में वासन्ती कुसुमों के समान सुकुमार अवयवों में उपलक्षिता राधा गहन वन में बारम्बार श्री कृष्ण का अन्वेषण करके थक-सी गई हैं, फिर भी विराम नहीं, खोज जारी है। कन्दर्प ज्वर-उत्कट प्रेम पीड़ा की चिन्ता से वे अत्यधिक कातर हो उठी है।"(59) एक अन्य स्थल पर डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "जयदेव की राधा शुरु में ही प्रगल्भा सी जान पड़ती है। वह जानती है कि श्री कृष्ण बहु वल्लभ हैं, स्वच्छन्द भाव से अन्यान्य ब्रज सुन्दरियों के साथ रमण कर रहे हैं, तथापि उन्हें श्री कृष्ण चाहिए, बिना कृष्ण के जीना असंभव है। उस 'प्रचुर-पुरन्दर-धनुरंजित-मेदुर-मदिर-भुवेशम्' के बिना विश्व-ब्रह्माण्ड फीका है। भले ही वह शठ हों, भले ही वह 'गोप-कदम्ब निंतबवती मुख चुम्बन हो पर वह मिले जरुर।"(60)

जयदेव के गीतगोविन्द की राधा को हम विलासिनी, प्रेम विह्वल और यौवन प्राप्त कह सकते हैं। कृष्ण के सौन्दर्य के कारण वह उन पर मुग्ध है। राधा प्रगल्भा है परन्तु प्रेमाधिक्य होने के कारण उसकी लज्जा और संकोच का बंधन टूट जाता है। राधा और कृष्ण के रूप में सामान्य युवक और युवतियों के प्रेममय जीवन की झलक विद्यमान है।

विद्यापति की राधा जयदेव की राधा से अलग दिखाई देती है। वह कृष्ण प्रेम में विह्वल है, परन्तु कृष्ण का अन्य स्त्री या गोपियों के साथ केलि विलास उसे पसन्द नहीं। वह इसके लिए कृष्ण को भला-बुरा कहती है। क्रोध करती है। अपनी बात स्पष्ट रूप से सामने रखती है तथा मान भी दिखाती है। विद्यापति की राधा आधुनिक स्त्री के अधिक करीब दिखाई देती हैं। आधुनिक स्त्री के कई गुण राधा में देखे जा सकते हैं। जो बात उसे अच्छी नहीं लगती उसके लिए वह कृष्ण से क्रोध करती है तथा अपनी बात बिना किसी झिझक के कृष्ण के सामने रखती है।

विद्यापति के परवर्ती कवियों ने राधा के चरित्र का विस्तार किया। भक्तिकाल से आधुनिक काल तक राधा तथा कृष्ण की प्रेमलीला के अनेक रूपों में दर्शन होते हैं। भक्तिकाल में सूरदास ने राधा का वर्णन किया है। उन्होंने राधा को कृष्ण की आदि शक्ति माना है। सूरदास के कृष्ण पुरुष और राधा प्रकृति हैं। सूर के शृंगार की पृष्ठभूमि यद्यपि आध्यात्मिक है और वे राधा कृष्ण को प्राकृतिक न मानकर प्रकृति और पुरुष का रूप मानते हैं। सूरदास की राधा वृन्दावन की भाँति ही इस भूतल पर निरन्तर केलि करती हैं। कवि ने उनके आध्यात्म रूप का

ही वर्णन किया है, जहाँ सांसारिक परकीयात्व मानने के लिए कोई स्थान नहीं है। जबकि विद्यापति की राधा देवी न होकर सामान्य नारी की भाँति हमारे सामने प्रस्तुत होती है। उसमें वो सभी गुण-दुर्गुण हैं, जो एक सामान्य स्त्री में होते हैं। विद्यापति की राधा लौकिकता के धरातल पर दृष्टिगत होती है तथा पाठकों पर भी वह एक सामान्य स्त्री के रूप में ही प्रभाव डालती है, न कि आध्यात्मिक।

भक्तिकालीन कवियों की राधा का दैवीय रूप देखने को मिलता है। उनमें संयोग तथा वियोग के सहज भाव हैं, परन्तु पाठकों को उसे पढ़ने पर उसमें आध्यात्मिकता का स्वयं आभास हो जाता है जबकि विद्यापति की राधा में शृंगार भावना चरम पर है। वह एक सामान्य स्त्री की भाँति लोक जीवन से प्रेरित है। विद्यापति की राधा में जो मुखरता तथा विह्वलता दिखाई देती है, वह परवर्ती भक्तिकालीन कवियों में नहीं।

रीतिकाल में शृंगारिकता अपने चरम पर थी। रीतिकालीन कवियों की वृत्ति वियोग की अपेक्षा संयोग में ही अधिक रमी है। शृंगार रस के अंतर्गत प्रेम-भक्ति की कविता आती है। प्रेम और भक्ति के नायक श्री कृष्ण हैं। डॉ. नगेन्द्र ने रीतिकालीन धार्मिकता और भक्ति के स्वरूप के संबंध में लिखा है, "वास्तव में यह भक्ति भी उनकी शृंगारिकता का ही एक अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब वे लोग घबरा उठते होंगे तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्म-भीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये लोग किसी न किसी तरह उसका आंचल पकड़े हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्ति-भावना से हीन नहीं है – हो ही नहीं सकता था क्योंकि भक्ति उसके लिए एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए भी, उनके विलास-जर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति रस में अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धांतिक निषेध करते। इसलिए रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायक-नायिका के लिए बार-बार 'हरि' और 'राधिका' शब्दों का प्रयोग किया गया है।"(61)

राधा का चित्रण परवर्ती कालों में भी विभिन्न कवियों द्वारा होता रहा है, परन्तु विद्यापति की मानुषी राधा धीरे-धीरे परवर्ती कालों में आध्यात्मिक रूप में परिवर्तित हो जाती है। जो मुखरता तथा स्थूल शृंगारिकता हमें विद्यापति की राधा में दिखाई देता है, वह बाद के कवियों की राधा में नहीं। विद्यापति की राधा सामान्य लोक जीवन की स्त्री है, जिसमें सामान्य मनुष्य की भाँति मिलन की इच्छा, भोग, विरह आदि सभी हैं। वह कोई देवी नहीं बल्कि एक मानव है, जिसमें इच्छाएँ प्रबलता के साथ अपने चरम पर हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ –

1. डॉ. तिवारी, वल्लभदास, हिन्दी काव्य में नारी, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या-194
2. डॉ. वर्मा, रामकुमार, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामनारायण लाल प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ संख्या-30
3. डॉ. सिंह, शिवप्रसाद, विद्यापति, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2017, पृष्ठ संख्या-10
4. नागार्जुन, विद्यापति के गीत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ संख्या-16
5. डॉ. सिंह, शिवप्रसाद, विद्यापति, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2017, पृष्ठ संख्या-119
6. नागार्जुन, विद्यापति के गीत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ संख्या-15
7. वही, पृष्ठ संख्या-130
8. डॉ. सिंह, शिवप्रसाद, विद्यापति, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2017, पृष्ठ संख्या-26
9. बेनीपुरी, रामवृक्ष, विद्यापति की पदावली, पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय और पटना (बिहार), द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या-47
10. डॉ. सिंह, शिवप्रसाद, विद्यापति, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2017, पृष्ठ संख्या-278
11. वही, पृष्ठ संख्या-138
12. वही, पृष्ठ संख्या-301-302
13. डॉ. वर्मा, रामकुमार, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामनारायण लाल प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ संख्या-508
14. वही, पृष्ठ संख्या-509
15. नागार्जुन, विद्यापति के गीत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ संख्या-70
16. वही, पृष्ठ संख्या-84
17. वही, पृष्ठ संख्या-85
18. डॉ. सिंह, शिवप्रसाद, विद्यापति, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2017, पृष्ठ संख्या-303
19. वही, पृष्ठ संख्या-245

20. सं. पं. झा, शशिनाथ, डॉ. वर्मा, बजरंग, विद्यापति पदावली, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृष्ठ संख्या-6
21. वही, पृष्ठ संख्या-8-9
22. वही, पृष्ठ संख्या-9-10
23. डॉ. सिंह, शिवप्रसाद, विद्यापति, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2017, पृष्ठ संख्या-110
24. वही, पृष्ठ संख्या-132
25. नागार्जुन, विद्यापति के गीत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ संख्या-101
26. वही, पृष्ठ संख्या-80
27. वही, पृष्ठ संख्या-27
28. मीतल, द्वारकाप्रसाद, हिन्दी साहित्य में राधा, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या-10
29. डॉ. सिंह, शिवप्रसाद, विद्यापति, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2017, पृष्ठ संख्या-127
30. वही, पृष्ठ संख्या-129
31. वही, पृष्ठ संख्या-130
32. वही, पृष्ठ संख्या-131
33. सं. पं. झा, शशिनाथ, डॉ. वर्मा, बजरंग, विद्यापति पदावली, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृष्ठ संख्या-11
34. डॉ. सिंह, शिवप्रसाद, विद्यापति, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2017, पृष्ठ संख्या-132
35. वही, पृष्ठ संख्या-132
36. सं. पं. झा, शशिनाथ, डॉ. वर्मा, बजरंग, विद्यापति पदावली, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृष्ठ संख्या-51
37. डॉ. सिंह, शिवप्रसाद, विद्यापति, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2017, पृष्ठ संख्या-132
38. सं. पं. झा, शशिनाथ, डॉ. वर्मा, बजरंग, विद्यापति पदावली, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृष्ठ संख्या-77
39. डॉ. सिंह, शिवप्रसाद, विद्यापति, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2017, पृष्ठ संख्या-133
40. वही, पृष्ठ संख्या-134

41. वही, पृष्ठ संख्या-134

42. वही, पृष्ठ संख्या-134

43. सं. पं. झा, शशिनाथ, डॉ. वर्मा, बजरंग, विद्यापति पदावली, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृष्ठ संख्या-100

44. वही, पृष्ठ संख्या-44

45. डॉ. सिंह, शिवप्रसाद, विद्यापति, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2017, पृष्ठ संख्या-135

46. वही, पृष्ठ संख्या-136

47. वही, पृष्ठ संख्या136

48. सं. पं. झा, शशिनाथ, डॉ. वर्मा, बजरंग, विद्यापति पदावली, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृष्ठ संख्या-23-24

49. डॉ. सिंह, शिवप्रसाद, विद्यापति, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2017, पृष्ठ संख्या-182

50. सं. पं. झा, शशिनाथ, डॉ. वर्मा, बजरंग, विद्यापति पदावली, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृष्ठ संख्या-111

51. वही, पृष्ठ संख्या-339-340

52. वही, पृष्ठ संख्या-368

53. वही, पृष्ठ संख्या-372

54. डॉ. सिंह, शिवप्रसाद, विद्यापति, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2017, पृष्ठ संख्या-182

55. वही, पृष्ठ संख्या-182

56. वही, पृष्ठ संख्या-183

57. वही, पृष्ठ संख्या-183

58. वही, पृष्ठ संख्या-183

59. डॉ. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, मध्यकालीन धर्म साधना, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या-146

60. डॉ. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, सूर साहित्य, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर लिमिटेड, बम्बई, 1956, पृष्ठ संख्या-93

61. डॉ. नगेन्द्र, रीतिकाव्य की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या-165

षष्टम अध्याय

नाथ, सिद्ध, जैन और बौद्ध काव्यों में स्त्री का चित्रण

प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक हिन्दी साहित्य में नारियों को केन्द्रीय स्थान मिलता रहा है। नारी की शारीरिक और मानसिक मनोदशा का चित्रण साहित्यिक रचनाओं में चित्रित होता रहा है। शास्त्र और लोक दोनों की संवेदनात्मक निर्मिति में नारी को सकारात्मक कम और नकारात्मक अधिक रूप में, रचनाकार समाज के समक्ष उपस्थित करते रहे हैं। रचनाकारों ने नारी को कथा की वस्तु के रूप में लिया तो सही, परन्तु अधिकांश ने उसे वस्तु के रूप में ही चित्रित किया है। उसकी संवेदना एवं मानसिक संघर्ष तथा उसके सामाजिक अस्तित्व एवं व्यवस्था में उसकी स्थिति क्या है, इससे रचनाकारों का कोई सरोकार दिखाई नहीं पड़ता। रचनाकारों की रचनाओं में स्त्री का कामिनी रूप और पुरुष की वासनात्मक प्रवृत्ति को उद्दीप्त एवं शमित करने वाला रूप ही दिखाई पड़ता है अर्थात् नारी का विलासिनी रूप ही मुख्यतः सामने आता है।

नारी सभी की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति में माया या वासना तृप्ति का साधन मात्र है। जैन हो या नाथ, सिद्ध हो या शाक्त, चारण कवि हो या लौकिक कवि, सभी की संवेदनात्मक रचनाधर्मिता में नारियों के अंग-प्रत्यंगों में रुचि दिखाकर, उनके अंग-प्रत्यंगों से तो साक्षात्कार कराया है लेकिन उसके आत्मिक सौन्दर्य से साक्षात्कार का शायद ही कोई प्रयास है। अगर प्रयास है भी तो उनकी विरहाकुलता की स्थिति और दशा में। बिना पुरुष के वह किस प्रकार बिलखती है का अतिरेकपूर्ण चित्रण कर, कवि उसकी कामभावना को व्यंजित करता था। जिससे समाज के लोगों का मनोरंजन भी हो जाता था और सामंती मानसिकता में नारी को विलास के साधन के रूप में, सुखोपभोग की वस्तु के रूप में चित्रित कर, उसकी वस्तुपरकता को भी सृजित किया जाता था। इस समाज में जो नारी जितनी सुन्दर और रूपवती होगी वह उतनी ही बड़ी वस्तु होगी। साहित्य में इनके रूप और आंगिक सौन्दर्य में मात्र काम और प्रेम को ही व्यक्त कर, उनके मानसिक और आत्मिक सौन्दर्य को नजरअंदाज कर सीमांकित किया गया है।

प्राचीन काल से ही स्त्रियों ने अपने लेखन में स्त्री-मुक्ति का संकेत दिया है। साहित्य जीवन की जिस पूर्णता की अभिव्यक्ति करता है, वह बिना नारी की सहभागिता के अपूर्ण होगा। नारी जागरण की दृष्टि से तो साहित्य उसके स्वत्व और व्यथा का समर्थ व्याख्याकार ही रहा है। कवियों के कंठ से भारत की जय ही नहीं गूंजी, नारी की जय भी ध्वनित हुई है। कथाकारों की आँखों में भारतमाता की परवशता पर ही आँसू नहीं आए हैं, विवश नारी के बँधनों पर भी आए हैं। यह बात स्पष्ट है कि अनादि काल से नारी, साहित्य का केन्द्र रही है। अतः साहित्य और नारी का संबंध शाश्वत है।

स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान अनादि काल से लिखती आ रही हैं। महिला लेखन की एक अविछिन्न धारा रही है। ऋग्वेद में रोमशा, लोपामुद्रा, श्रद्धा, कामायनी, अपाला, घोषा, सूर्या, शाश्वती, ममता आदि ऋषिकाओं के नाम मंत्रद्रष्टा के रूप में प्राप्त होते हैं। वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति का अनुमान ऋग्वेद के उन सूक्तों द्वारा

लगाया जा सकता है जिसकी रचना स्त्रियों ने की है। ऋग्वेद मंत्रों का संकलन है, इसमें मंत्रों के रचयिता पुरुष एवं स्त्री दोनों हैं। मंत्रों के रचयिता स्त्री-पुरुष दोनों के लिए ही ऋषि शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋषिका शब्द का प्रचलन बाद में हुआ होगा। ममता, रोमशा, लोपामुद्रा, अदिति, विश्ववारा आत्रेयी, अपाला आत्रेयी, घोषा, शची, वागाभृणी, सूर्या, सावित्री आदि ऋषिकाओं ने जिन मंत्रों का उद्घोष किया है उनसे वैदिक समाज में स्त्रियों की स्थिति का भली-भाँति परिचय मिलता है। सबसे पहले ब्रह्मवादिनी रोमशा के सूक्तों को देखें- ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में एक सौ छब्बीसवें सूक्त में रोमशा के मंत्रों का उल्लेख है। रोमशा वृहस्पति की पुत्री और भावभव्य की पत्नी थीं। रोमशा के शरीर में घने रोम थे इसी कारण इनके पति भावभव्य इनकी उपेक्षा करते हैं। अपने पति भावभव्य की गर्वोक्तियों का उत्तर देते हुए 'हे' पति राजन्! जैसे पृथ्वी राज्य धारण एवं रक्षा करने वाली होती है, वैसे ही मैं प्रशंसित रोमों वाली हूँ। मेरे सभी गुणों को विचारो। मेरे कामों को अपने सामने छोटा न माने। रोमशा के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इन्हें वेद, शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान था। वे उन्हीं बातों का प्रचार करती थी जिनसे स्त्रियों की बुद्धि का विकास होता था।

अपाला आत्रेयी ऋषि अत्रि की कन्या थीं। कुष्ठ रोग हो जाने के कारण इनके पति ने इनका परित्याग कर दिया था। अपाला अपने पिता के घर रहती थीं। इन्होंने अपने पिता के घर रहकर इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए तपस्या प्रारम्भ की। अपने सूक्त में अपाला ने कहा है कि अपने स्वामी की रूष्टता के कारण भ्रमणशील होकर अपाला ने इन्द्रदेव की बहुत उपासना की है। इन्द्रदेव हमें बहुत प्रकार से सामर्थ्य, सक्रियता तथा साधन सम्पन्न बनाएँ। स्त्री लेखन के सम्बन्ध में सुमन राजे कहती हैं, "सामान्यतः इनका रचनाकाल ईसापूर्व की पाँचवी शताब्दी माना जाता है। महिला लेखन का ऐसा संग्रह दुर्लभ है। इसमें लगभग सौ भिक्षुणियों की गाथाएँ संकलित हैं। सभी रचनाएँ पालि भाषा में हैं। प्राकृत भाषाओं में स्त्री लेखन के संकेत स्फुट रूप में ही मिलते हैं। यह तो संभव प्रतीत नहीं होता कि जिस प्राकृत भाषा को स्त्रियों की भाषा कहा जाता हो और जिनका संस्कृत बोलना निषिद्ध हो उसमें स्त्रियों ने लिखा न हो।"(1)

ब्रह्मवादिनी घोषा की कथा भी अपाला से मिलती-जुलती है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में इनके सूक्तों का उल्लेख है। कोढ़ होने के कारण घोषा बहुत समय तक अविवाहित रहीं। घोषा ने अश्विनी कुमारों की स्तुति की। इनकी कृपा से घोषा स्वस्थ हुईं और इनका विवाह हुआ। घोषा के पति का नामोल्लेख नहीं है। अश्विनी कुमारों के लिए घोषा द्वारा की गई स्तुति ध्यान देने योग्य है- हे अश्विनी कुमारों! आपके अनुग्रह से घोषा परम सौभाग्यवती हुई है। घोषा के स्वामी के लिए प्रचुर वर्षा हो, जिससे खेत लहलहा उठें। आपकी कृपा-दृष्टि से घोषा के भावी पति की शत्रुओं से रक्षा हो। युवा, सुन्दर पति पाकर घोषा का यौवन चिरकाल तक अक्षुण्ण बना

रहे। हे अश्विनी कुमारों! पिता जैसे सन्तान को शिक्षा देते हैं, वैसे ही आप भी मुझे सत् शिक्षा दें। मैं ज्ञान बुद्धिहीना नारी हूँ। आपका आशीर्वाद मुझे दुर्गति से बचावे। आपके आशीर्वाद से मेरे पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि सुप्रतिष्ठित होकर जीवन यापन करें। पतिगृह में मैं पति की प्रियपात्री बनूँ।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में शची की सूक्तियाँ हैं। शची असुरकुल के पुलोम की पुत्री थीं। शची ने तपश्चर्या से इन्द्र की पत्नी होने का गौरव प्राप्त किया। अपनी सूक्तियों में शची ने अपने श्रेष्ठ होने की बात कही है। यथा मैं ध्वजा के समान ज्ञानवती हूँ और सिर के समान प्रधान हूँ। उग्र होते हुए भी मेरे पति मेरे सामने मधुर वचन बोलते हैं। मुझे सर्वोत्तम जानकर स्वामी मेरे कार्यों का सदैव अनुमोदन करते हैं। मेरे पुत्र शत्रुओं का नाश करने में समर्थ और मेरी कन्या सर्वश्रेष्ठ रंगरूप से सुशोभित है। मैं सबके ऊपर विजय प्राप्त करती हूँ। स्वामी भी मेरे यश की चर्चा करते हैं।

ऋग्वेद के सूक्त एक सौ पच्चीस में वागाभृणी के सूक्त हैं। वागाभृणी वाणी की देवी हैं। इन्होंने अपने सूक्तों में अपनी ही प्रशंसा अथवा अपने ही सम्बन्ध में कहा है। अतः इनके सूक्तों को आत्म-स्तुति कहा जा सकता है। वागाभृणी स्वयं के संदर्भ में कहती हैं- प्राणियों में जो जीवनी-शक्ति है, दर्शन-क्षमता है, ज्ञान-श्रवण सामर्थ्य है, वह सभी मुझ वागदेवी के सहयोग से ही प्राप्त होती है। जो मेरे सामर्थ्य को नहीं जानते वे विनष्ट हो जाते हैं। हे बुद्धिमान मित्रों! आप ध्यान दें। देवगण और मनुष्यगण श्रद्धापूर्वक जिसका मनन करते हैं, वे सभी विचार सन्देश मेरे द्वारा ही प्रसारित किए जाते हैं। जिसके ऊपर मेरी कृपा-दृष्टि होती है, वे बलशाली, श्रेष्ठ व बुद्धिमान होते हैं। शक्ति-सूक्त मे एक नारी के आत्मविश्वास की पराकाष्ठा का उल्लेख मिलता है, "नारी शक्ति की दृष्टि से शक्ति-सूक्त आत्म विश्वास की पराकाष्ठा है, जो अन्न खाता है, वह मेरी ही शक्ति से खाता है, जो द्खता है, वह मेरी ही शक्ति से, जो सांस लेता है, कही हुई बात सुनता है, वह मेरी ही सहायता से, जो मुझे इस रूप में नहीं जानते, वे न जानने के कारण ही हीनदशा को प्राप्त होते हैं।"(2)

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के एक सौ इक्यानवें सूक्त की प्रणेता श्रद्धा हैं। इनकी सूक्तियों की देवता स्वयं श्रद्धा हैं। इन्होंने अपने संदर्भ में कहा है- श्रद्धा से यज्ञाग्नि को प्रज्वलित किया जा सकता है और श्रद्धा से ही आहुति समर्पित की जाती है। श्रद्धा को विभूतियों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। हे श्रद्धे! आप दाता को अभीष्ट फल प्रदान करें। जो दान देने की इच्छा करता है, आप उन्हें अभिष्ट फल प्रदान करें। हे श्रद्धे! आप याजकों को हमारे इन वचनों के अनुसार वांछित फल प्रदान करें। देवगण और याजक मनुष्य वायुदेव के संरक्षण में श्रद्धा की उपासना करते हैं। अन्तःकरण में किसी संकल्प के जागृत होने पर वे श्रद्धा का ही आश्रय लेते हैं। श्रद्धा से ही मनुष्य धन वैभव अर्जित करता है।

उक्त वर्णित वैदिक ऋषिकाओं के सूक्तों से वैदिक युग में स्त्रियों की स्थिति का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात है, स्त्रियों की शिक्षा। उस युग में स्त्रियों को वैसी ही शिक्षा दी जाती थी जैसी पुरुषों को। स्त्रियाँ सामान्यतया शिक्षित होती थीं। समाज में परिवार और विवाह जैसी संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था। अधिकांश ऋषिकाओं ने अपने सूक्तों में श्रेष्ठ पति और पुत्र की कामना अभिव्यक्त की है। इससे स्पष्ट है कि अच्छे पति का होना स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा से जुड़ा था। श्रेष्ठ पति और पुत्र की कामना समाज में पुरुषों के वर्चस्व को भी दर्शाता है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में व्यभिचारिता नहीं थी। रोमशा, शची, वागाभृणी,श्रद्धा आदि की सूक्तियाँ इस बात की पुख्ता प्रमाण हैं कि स्त्रियों में आत्मचेतना अथवा स्व के अस्तित्व का तीव्र बोध था। पति से अलग एक स्वतंत्र व्यक्तित्व की कामना रोमशा, शची, वागाभृणी आदि ऋषिकाओं का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। कहा जा सकता है कि हमारे वाग्ङमय में इन वैदिक ऋषिकाओं के स्वरों में ही स्त्री आत्मचेतना का प्रथम स्वर अंतर्निहित है।

बौद्धकालीन समाज में नारी की स्थिति दयनीय हो गयी थी। इस काल में नारी पुरुष के अत्याचारों के बोझ से दबी जा रही थी। शास्त्रकारों ने जिसे कोई व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं दी थी, उसके लिए बौद्धकाल में अमर संवेदना का सन्देश मिला। बौद्ध साहित्य के थेरी गाथा और सुत्त पिटक के अन्तर्गत निकायों तथा जातक कथाओं में नारी के सद्-असद् रूप का प्रमुख रूप से वर्णन मिलता है। भगवान बुद्ध ने इस सत्य को उद्घाटित किया कि नारी पुरुष के ही सदृश अपने पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार फल भोगती है। बुद्ध ने आध्यात्मिकता के द्वार सधवा और विधवा दोनों के लिए समान रूप से खोल दिए। यहाँ तक कि वेश्याओं के लिए भी संघ के द्वार समान रूप से खुले रहते थे। तथागत ने आम्रपाली का निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार किया था। बौद्ध काल में कन्याओं का विवाह वयस्क होने पर ही होता था। प्रेम विवाह के भी कतिपय उदाहरण बौद्ध साहित्य में प्राप्त होते हैं।

कुण्डकेशा और विशाखा अविवाहित थीं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उस काल में स्त्रियाँ अविवाहित भी रह सकती थीं। बहु-विवाह की भी प्रथा थी, ऐतिहासिक पात्र अजातशत्रु की अनेक पत्नियाँ थीं। इस काल में नारी के उन्नत स्वरूप के दर्शन हम ध्रुवस्वामिनी, राजश्री, महाश्वेता, कादम्बिनी, सुजाता और आम्रपाली के चरित्रों में कर सकते हैं। सम्बन्ध विच्छेद भी नियम सम्मत था। नारी स्थिति के संरक्षण के साथ-साथ बौद्धकाल में उनकी स्थिति का ह्रास भी हुआ। महात्मा बुद्ध भी प्रारम्भ में नारी को बौद्ध धर्म की दीक्षा प्राप्त करने की अनुमति देने के पक्ष में नहीं थे। सामान्य विश्वास के अनुसार नारी का कार्यक्षेत्र गृह था।

वैदिक काल के पश्चात् रचना के सूत्र 'थेरी गाथाओं' में उपलब्ध होते हैं। इसमें 522 गाथाओं का संकलन है। थेरीगाथा में विभिन्न वर्गों एवं वर्णों की महिलाएँ शामिल हैं, जिन्होंने भिक्षुणी बन अपने जीवन के संचित

अनुभवों को इन गाथाओं में गाया है। इनमें खेमा, सुमना, शैला और सुमेधा कोसल, मगध आलवी के राजवंशों की महिलाएँ थीं। महाप्रजापति गौतमी, तिष्या, अभिरूपा, नंदा, सुन्दरी, धीरा, मित्रा, भद्रा आदि थेरियाँ शाक्य और लिच्छवी सामंतों की कन्याएँ थीं। मैत्रिका, अन्यतरा, उत्तमा, चाला, उपचाला, शिशुपचाला, रोहिणी, सुंदरी, शुभा, भद्रा, कपिलायिनी, मुक्ता, दंतिका, सोमा आदि ब्राह्मण वंश की थीं।

थेरी गाथाओं की पहली पहचान स्त्री होने की है, जो इनकी रचनाओं की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। भारतीय संदर्भ में यदि हम स्त्री लेखन के इतिहास का अवलोकन करें तो इतिहास के पन्नों पर पहली पुस्तक के रूप में थेरी गाथा आती है, जिसमें गौतम बुद्ध की समकालीन भिक्षुणियों ने अपने जीवनानुभव अंकित किए हैं। सम्यक् रूप से उनके कथन नारी जीवन के दुःख को व्यक्त करने के साथ-साथ संपूर्ण मानव जीवन के दुःख को अभिव्यक्त करते हैं। इनके सम्बन्ध में सुमन राजे कहती हैं, "थेरी गाथाओं में संकलित थेरियाँ समाज के विभिन्न सारणियों से आयी थीं। इनमें सुमना, जयन्ती, शैला, क्षेमा, गौतमी आदि राजकुमारियाँ थीं। अनुपमा, उत्पलवर्णा आदि श्रेष्ठि कन्याएँ तथा सिन्हा सेनापति की पुत्री थी। वेश्याओं के संवर्ग में विमला, अम्बपाली आदि आती हैं। निम्न वर्ग से आई थेरियों में चापा बहेलिए की पुत्री थी, सुमंगलता माता छाता बनाने वाले की पत्नी थीं और पूर्णिका दासी। विभिन्न वर्गों से आई इन थेरियों की चिन्ता एक ही थी – शास्ता का वचन है, स्त्री होना दुःख है।"(3)

थेरी गाथा में चित्रित विवरणों से बौद्धकाल में स्त्रियों की स्थिति पर सम्यक प्रकाश पड़ता है। यद्यपि 'सर्वजन हिताय' वाले बौद्ध धर्म ने नारी की स्थिति में सुधार किया लेकिन संघ में स्त्रियों को भिक्षुओं के बराबर का स्थान प्राप्त नहीं हुआ। बौद्धकाल में स्त्रियों की स्थिति कैसी थी इसे जानने के लिए सुमंगलता माता के जीवन को देखा जा सकता है। सुमंगलता माता का अपना कोई नाम नहीं है। आधुनिक काल की तरह उसकी पहचान उसके पुत्र सुमंगल के नाम से होती है। दरिद्रता के कारण उसका विवाह छाता बनाने वाले से हुआ था। उन्होंने अपनी मुक्ति की खुशी इस प्रकार जाहिर की है –

"अहो! मैं मुक्त नारी। मेरी मुक्ति कितनी धन्य है।
पहले मैं मूसल लेकर धान कूटा करती थी,
आज उससे मुक्त हुई।
मेरी दरिद्रावस्था के वे छोटे-छोटे बर्तन।
जिनके बीच मैं मैली-कुचैली बैठती थी,

और मेरा निर्लज्ज पति मुझे उन छातों से भी तुच्छ समझता था
जिन्हें वह अपनी जीविका के लिए बनाया करता था।"(4)

उक्त वचन सुमंगलता का है। संघ में दीक्षित होने से पहले किसी छाता बनाने वाले से इनका विवाह हुआ था। व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन के दुःखों का चित्रण निम्नवर्गीय स्त्री के जीवन स्थितियों पर प्रकाश डालता है। यह केवल सुमंगलता के जीवन की ही सच्चाई नहीं है बल्कि उन तमाम स्त्रियों के जीवन का सच है जो उस जैसा जीवन जीने को अभिशप्त थीं। सुमंगलता के कथन से उसकी जाति का परिचय नहीं मिलता, लेकिन उच्च वर्ण मानी जाने वाली जातियों में भी स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी। निम्न पंक्तियाँ मुक्ता की हैं। मुक्ता कोसल जनपद की एक दरिद्र ब्राह्मण की पुत्री थी। दरिद्रता के कारण उसका विवाह एक कुबड़े से हुआ। मुक्ता का कथन है –

"मैं सुमुक्त हो गयी। अच्छी विमुक्त हो गयी।
तीन टेढ़ी चीजों से अच्छी विमुक्त हो गयी।
ओखली से, मूसल से और अपने कुबड़े पति से
भलि विमुक्त हो गयी।"(5)

मुक्ता, विवाह के कुछ समय पश्चात् अपने दरिद्रावस्था से तंग आकर अपने पति से अनुमति लेकर संघ में शामिल हो गईं। एक अन्य भिक्षुणी पूर्णिका का कथन भी ध्यान देने योग्य है। पूर्णिका श्रावस्ती के एक सेठ के यहाँ दासी थी। पूर्णिका सेठ के यहाँ पानी भरने का काम करती थी। एक बार पानी भरते समय उसका एक ब्राह्मण से विवाद हुआ –

"मैं पनिहारिन थी।
सदा पानी भरना ही मेरा काम था।
स्वामिनियों के दण्ड के भय से
उनके क्रोध-भरे कुवाक्यों से पीड़ित होकर
मुझे कड़ी सर्दी में भी सदा पानी में उतरना पड़ता था।"(6)

उसके पूछने पर ब्राह्मण का उत्तर था कि स्नानशुद्धि से पापमुक्ति होती है। पूर्णिका सहज ढ़ंग तर्क से ब्राह्मण को उत्तर देकर सहमत कर लेती है। जब सेठ को यह ज्ञात होता है तो वह उसे दासत्व से मुक्त कर देता है और वह भिक्षुणी बन मुक्ति प्राप्त करती है –

"यदि जल से ही शुद्धि होती
तब तो मेंढ़क, कछुए, जल के सर्प, मगर और अन्य
जलचरों का स्वर्गमन निश्चित है।
यदि इस नदी में नहाने से पूर्व के पाप-कर्म
धुल जाते हैं
तो क्या उनके साथ ही तेरे पुण्य-कर्म भी
न धुल जाएँगे?
ब्राह्मण फिर तेरे पास क्या रहेगा?"(7)

पूर्णिका का उक्त कथन न केवल दासियों के जीवन पर प्रकाश डालता है बल्कि स्त्रियों की तीक्ष्ण, तार्किक बुद्धि पर भी प्रकाश डालता है। यह तो ज्ञात नहीं कि पूर्णिका शिक्षित थी या नहीं लेकिन ब्राह्मण से उसके संवाद से स्पष्ट है कि व्यावहारिक ज्ञान में वह किसी से कम नही थीं। बौद्ध भिक्षुणियों की गाथाओं में कृशा गौतमी की गाथा भी उल्लेखनीय है। कृशा का जन्म एक निर्धन परिवार में हुआ था, अत्यन्त दुबली होने के कारण उसका नाम कृशा पड़ा था। विवाह के पश्चात् कृशा को अपने पति गृह में आदर प्राप्त नहीं था। पुत्र प्राप्ति के पश्चात् उसे परिवार में सम्मान और स्थान प्राप्त हुआ। लेकिन थोड़े ही समय पश्चात् उसके पुत्र की मृत्यु हो गई और कृशा अपने पुत्र को लेकर दर-दर भटकती हुई गौतम बुद्ध के पास पहुँची। बुद्ध ने उससे कहा कि पहले उस घर से एक मुठ्ठी सरसो ले आओ, जिस घर में किसी की मृत्यु न हुई हो। अन्ततः कृशा को जीवन-मृत्यु के सत्य का ज्ञान हुआ। कृशा कहती है-

"स्त्री होना दुःख है।'
ऐसा उस मनुष्यों के चित्त को संयमी बनाने वाले उन सारथी-
स्वरूप (भगवान बुद्ध) ने कहा है।
(विद्वेषी) सपत्नियों के साथ एक घर में रहना दुःख है
बच्चों को (तीव्र पीड़ा में) जनना दुःख है।
कोई-कोई जनने वाली माताएँ एक बार ही मृत्यु चाहती हुई
अपना गला काट लेती हैं, ताकि दुबारा यह दुःख न सहना पड़े।
कुछ सुकुमारियाँ विष खा लेती हैं
बच्चा जब पैदा नहीं होता और गर्भ बीच में रूक जाता है,

तो भ्रूण मातृघातक बन जाता है और जच्चा और बच्चा
दोनों ही विपत्ति अनुभव करते हैं।"(8)

कृशा का कथन नारी देह और उस देह को होने वाले कष्टों का खुला दस्तावेज है। आज जब आधुनिक चिकित्सा प्रणाली अत्यन्त विकसित और उन्नत है तब भी प्रसव के समय न जाने कितनी स्त्रियाँ मृत्यु की गोद में चली जाती हैं, फिर आज से सदियों पहले सुविधाओं के अभाव में प्रसव कितना कष्टकारी और प्राणघातक रहा होगा इसका कुछ-कुछ अनुमान हमें कृशा गौतमी के उक्त कथनों में मिलता है।

अचलदास की सातवीं पत्नी थीं, झीमा चारणी, जिनके दोहे प्राप्त होते हैं। ऐसा कहा जाता है कि अचलदास को अपनी दूसरी पत्नी लीला अधिक पसन्द थीं। उनकी तीसरी पत्नी उमादे को सम्बोधित करते हुए झीमा ने कहा –

"धिन उमादे साँखली ते पिय लियो भुलाय।
सात बरसरो बाँछडियो तो किम रैन बिहाय।
पगै बजाऊँ घूँघरु, हाथ बजाऊँ तूँब।
उमा आचल मुलावियो, ज्यों सावन की लूँब।"(9)

थेरियों की विशेषता इस बात में दिखाई देती है कि वे अपने पूर्व जीवन को बताने में कहीं संकोच नहीं करती हैं। थेरियों ने अपने जीवन के दुःख को समझा और उसे व्यक्त भी किया और उस दुःख से मुक्त होकर जिस परम शान्ति का अनुभव किया, उसको भी व्यक्त किया। इसमें थेरियों ने अपने सामाजिक जीवन को, अपने पारिवारिक जीवन को, नारी के रूप में समाज में उनके स्थान को, तत्कालीन सामाजिक-धार्मिक मान्यताओं को अच्छी तरह काव्यमय शैली में लिखा है। थेरीगाथा केवल जीवनानुभवों का काव्य मात्र नही है, बल्कि प्राचीन भारतीय समाज में नारी की क्या स्थिति थी? नारी की ओर देखने का समाज का क्या दृष्टिकोण था? आदि कई बातों का वर्णन थेरीगाथा में मिलता है।

बाह्य सौन्दर्य की जगह आन्तरिक सौन्दर्य की महत्ता का वर्णन करती हुई अम्बपाली कहती हैं –

"एक समय यह शरीर ऐसा था।
इस समय यह जर्जर और अनेक दुक्खों का आलय है।
एक ऐसे जीर्ण घर के समान,
जिसकी लीपन टूट-टूट कर नीचे गिर गई है।

बिना लेपादि के यह जरा का घर शरीर,
शीघ्र ही इस प्रकार गिर जाएगा,
जैसे टूटी हुई लीपन वाला जीर्ण घर।
सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।"(10)

थेरीगाथा से इस बात का पता चलता है कि नारी, केवल श्रद्धा और आस्था रखने वाली ही नहीं बल्कि बुद्धिवाद में पुरुषों से किसी भी मात्रा में कम नहीं होती। थेरीगाथा में भिक्षुणियों का जो व्यक्तित्व व्यक्त हुआ है, उनके व्यक्तित्व के जो गुण व्यक्त हुए हैं, वे भारतीय साहित्य में व्यक्त नारियों के चरित्र से भिन्न हैं।

बौद्ध साहित्य की भाँति जैन साहित्य में भी नारी के प्रति विरक्ति की भावना लक्षित होती है। वह पुरुष के सिद्ध मार्ग में बाधा मानी गई है। फिर भी उल्लेखनीय है कि साहित्य में बहुत सी भिक्षुणियों एवं श्राविकाओं का उल्लेख मिल जाएगा जिन्होंने जैन धर्म और साहित्य के विकास में सक्रिय योगदान दिया। स्थूलभद्र की बहनें यक्षादि याकिनी और महन्तरा की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। उनके तीर्थंकरों में 19 मल्लिनाथनियों का भी उल्लेख मिलता है। नारी के जिस सौन्दर्य और सांसारिक प्रेम को आरम्भ में वह सम्मानपूर्वक अपने काव्य में प्रतिष्ठित करते हैं, उसे अन्त में यह कहकर विदा कर देते हैं कि इसमें कुछ नहीं रखा है। यह सारहीन है। जैन काल में अपनी सुन्दर कन्या के कारण साधारण वर्ग का व्यक्ति भी राजा का सम्बन्धी बन जाता था।

जैनों ने भी बौद्धों की भाँति विवाह को धार्मिक कर्त्तव्यों के रूप में नहीं देखा। विवाह पारिवारिक कृत्य न रहकर सामाजिक कृत्य बन गया था। सामान्यतया पुनर्विवाह का प्रचलन नहीं था। किन्तु निम्न वर्ग की कन्याओं का पुनर्विवाह भी हो जाता था। पत्नी-पति के साथ मधुर दाम्पत्य जीवन व्यतीत करती थी। बौद्धयुगीन पत्नी की अपेक्षा जैन युगीन पत्नी की अवस्था अधिक उन्नत हो गयी थी। बहु पत्नीत्व प्रथा प्रचलित थी। वैदिक काल से लेकर जैन युग तक नारी का सर्वाधिक मर्यादित रूप जननी का था। विधवा नारी की स्थिति में सामान्यतया कोई विशेष अन्तर नहीं था।

सुमन राजे ने सिद्ध साहित्य में मध्ययुगीन नवजागरण का संक्रमण घटित होना लक्ष्य किया है। इस संक्रमण काल का प्रारंभ आदि सिद्ध सरहपा के काल से मानते हुए, संक्रमण की तीन दशाओं का उल्लेख किया है, "लोकाभिमुखता, सामाजिक समता में विश्वास और असमता के प्रति विद्रोह तथा स्त्री प्रतीकों द्वारा भावाभिव्यक्ति।"(11) संक्रमणकालीन साहित्य सिद्धों द्वारा रचित चर्यापद है। तंत्रमार्ग स्त्रियों के लिए ही नहीं बल्कि शूद्रों के लिए भी खुला था। बौद्ध, सिद्धों की साधना और रचनात्मकता में स्त्रियों का प्रवेश निषेध नहीं

था। सामाजिक क्षेत्र में इसने बाल विवाह का विरोध किया तो विधवा विवाह की अनुमति भी प्रदान की। उस समाज में नारी की स्थिति को लक्षित करते हुए रणजीत कुमार साहा विवेचित करते हैं कि, "नायिका के विभिन्न रूप तत्कालीन समाज-व्यवस्थानुसार ही निर्मित और अधिष्ठित या निर्णित हुए। लेकिन सिद्धों ने उसकी नई व्याख्या की। हिन्दू नाड़ी-व्यवस्था के अनुसार ललना-रसना या अवधूती इत्यादि की कायिक अवस्थिति क्या थी, सुखोत्पादन में उसकी क्या भूमिका रही है तथा उन नायिकाओं का क्या स्थान था, महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है। सामाजिक तथा स्वस्थ गार्हस्थ्य परंपरा की गतानुगतिक दृष्टि से विचार करें तो नायिकाओं के सन्दर्भ में हमें निराशा होगी।"(12) डॉ. बच्चन सिंह के अनुसार, "नैरात्म्य या निःस्वभाव को प्राप्त करने के लिए सिद्धों ने तांत्रिक वामाचार को अपनाया। वामाचार के मूल में स्त्री-पुरुष का अबाधित असामाजिक संभोग है। इसका पौरोहित्य नीच जाति की स्त्री करती है जिसे भैरवी या योगिनी कहा जाता है। प्रज्ञोपाय (स्त्री-पुरुष) और पंचमकार (मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन, मुद्रा) उसके साधन हैं। साध्य है महासुखवाद अथवा संभोग की चरम परिणति।"(13) नीच कही जाने वाली स्त्रियों को उन्होंने भैरवी या योगिनी का दर्जा दिया। रणजीत कुमार साहा लिखते हैं, "नैरात्मा देवी से लेकर छिनाली जैसे प्रयोग यहाँ मिलते हैं। अधिकांश नायिकाएँ निम्नकुलोद्भूता हैं अवश्य- पर वे सभी साधना सोपानों पर चढ़ाने में साधक की सहायता मुद्रा बनकर करती हैं। चर्यापदों में स्वकीया, परकीया तथा सामान्या इन तीनों परंपरागत नायिका रूपों का चित्रण मिलता है।"(14)

सिद्ध साहित्य में प्रणय के घनिष्ठ चित्रों के द्वारा सिद्धों ने महासुख की अनुभूति का चित्रण किया है। वज्रयान में महासुख को सहवास सुख के समान चित्रित किया गया है। सहवास सुख निर्वाण सुख के समान बताया गया है।

सहज पथ पर चलने के लिए आवश्यक है कि साधक सहज जीवन का निर्वाह करे तथा अपनी एवं लोक की अपेक्षाओं को चाहे वह किसी भी प्रकार की हों उसका पालन करे। इस संतुलन को बनाए रखने में उसकी अपनी पत्नी ही सर्वोत्तम सहायक हो सकती है। गृहिणी ही प्रज्ञा महामुद्रा की प्रतिकृति है। साधक की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि यह है कि वह अपनी गृहिणी को अपने चित्त में उस प्रकार धारण कर ले जिस प्रकार नमक पानी में विलीन हो जाता है। इस रूपाकार तादात्म्य से समरसता तत्क्षण उत्पादित होती है। "सिद्धों को विवाह प्रथा में अनास्था किंतु गार्हस्थ्य जीवन में आस्था थी। यह एक विरोधाभास है। कण्हपा लिखते हैं-

"जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहितिम घरिणि लइचित्त।
समास जाई जक्खणे जइ पुणु ते समणित्त।।"(15)

कण्हपा के डोम्बी गीत में नारी डोम्बी के प्रति कापालिक का संवेदनशील प्रेम निवेदन है। कण्हपा जब डोम्बी नारी का चित्रण करते हैं तो उसमें लोक-जीवन की डोम्बी नारी के जीवन का यथार्थ चित्रांकन दिखाई पड़ता है। सिद्ध कण्हपा ने लिखा है कि डोम्बी नारी अन्य डोम्बी नारियों की तरह नगर के बाहर कुटिया में रहती है। वह नृत्य में कुशल है। वह नाव में सवार होकर नदी पार कर नगर के बाजार में अपना सामान बेचने जाती है। वह तंत्री मालाएँ तथा हाथ की बुनी हुई टोकरियाँ बेचती है। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय की स्त्रियाँ सीमित ही सही लेकिन अपना जीविकोपार्जन स्वयं करती थीं। वह किसी पुरुष पर आश्रित नहीं थी। "नैरात्मा देवी के रूप में डोम्बी नायिका को परिणाम की दृष्टि से, बहुत सी चर्याओं में स्थान मिला है। चर्या 10 इस दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण और समाजशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से उल्लेखनीय रचना है। इसमें रहस्यात्मकता, सांप्रदायिक तथा प्रचलित नारी साधना का एक महत्त्वपूर्ण निदर्शन है। साधारण तथा निम्न जाति की स्त्री जो अस्पृश्या है उसे ब्राह्मणादि उच्च धर्माधिकारियों से भी उत्कृष्ट बताया गया है। उस डोम्बी नायिका (परिशुद्धावधूति नैरात्मा) को नगर के बाहर रहना पड़ता है- क्योंकि पूरी नागर या अभिजात संस्कृति पर तथाकथित धर्म-धुरिणों का वर्चस्व है। इस नीच कुलोद्भवा रमणी सहजानंद रूपिणी योगिनी को इन्द्रियातीत भी कहा गया है। इन्द्रियादि द्वारा उसका संस्पर्श असंभव है- इन्द्रिय प्रधान नगर के नागरिक (ब्राह्मणादि उच्च पदस्थ) द्वारा वह स्पर्शनीय नहीं-

"नगर बाहिरे डोंबी तोहरी कुड़िया।
छोइ जाइ सो बाह्य नाड़िया।।
आलो डोंबी तोए सम करिब म सांग।
निघिण कण्ह कपाली जोई लाग।।
एक्क सो पद्मा चोषट्टि पाखुड़ी।
तढ़ि चढ़ि नाचअ डोंबी वापुड़ी।।
हालो डोंबी तो पुछिम सद्भावे।
अइससि जासि डोंबी कहरि नावे।।"(16)

गृहस्थ वर्णन में गृहस्थ और गृहिणी की अद्वैत अनुभूति का संकेत करते हैं। सिद्ध साहित्य के प्रणय प्रसंगों में लोकजीवन के जो चित्र उभरते हैं, वे मौलिक लगते हैं। शबरपा एक शबरी बालिका के भोले-भाले चित्र का अंकन करते हुए कहते हैं कि वह प्रकृति की अबोध बालिका की तरह संसार से दूर ऊँचे पर्वत पर रहती है। वह मोरपंख से श्रृंगार करती है। वह गुंजमाला से अपने अंगों को सजाती है। घने तरुओं के मध्य वज्रकुंडल पहनकर

घूमती है। शबरपा ने एक ऐसी अबोध बालिका का वर्णन किया है जिसे शास्त्रों में मुग्धा नायिका के रूप में चित्रित किया जाता है।

"ऊँचा-ऊँचा पर्वत, तहँ बसै शबरी बाली।
मोर-पिच्छ पहिरले शबरी ग्रीवा गुंजा-माली।।
उन्मत शबरो पागल शबरो ना करु गुली-गुहाड़ी।
तोहार निज घरनी नामे सहज सुन्दरी।।
नाना तरुवर मौरिल रे गगन ते लागल डारी।
एकली शबरी यहि बन हींड़ै कर्ण कुंडल वज्रधारी।।"(17)

शबरपा के इस प्रकृति वर्णन में तथा बालिका के वर्णन में एक मासूमियत दिखाई देती है। यह मासूमियत शास्त्रीय साहित्य की नायिका के रूप वर्णन से भिन्न है। उसमें सामंती मानसिकता के नायक-नायिका की भाँति उपभोगवृत्ति तथा विलासिता का वर्णन नहीं है। इन रचनाओं में नायिका को विलास की वस्तु तो नहीं समझा गया है लेकिन उनकी हृदय की आकांक्षाओं को भी चित्रित नहीं किया गया है। वह क्या सोचती हैं, क्या चाहती हैं इसका वर्णन कहीं नहीं मिलता है। सरहपा एक शबर कन्या को महामुद्रा के रूप में लेकर रहते थे। यह जाति-पाँति का खुला विरोध था। महामुद्रा की यह नई अवधारणा समाज में स्त्री की निम्न स्थिति के प्रति स्पष्ट विद्रोह के रूप में दिखाई देता है।

शबरपा और कण्हपा ने नारी जीवन के बाहरी क्रिया कलापों का तो वर्णन किया है लेकिन उसकी आंतरिक मनःस्थिति का वर्णन यहाँ उपस्थित नहीं है। सिद्ध तो नारियों में चित्त लगाकर अपने महासुखवाद की प्राप्ति कर लेते थे परन्तु हमें यह मालूम नहीं की ये नारियाँ पुरुषों में कितना चित्त लगाती थीं। सिद्धों की साधना और व्यंजना में व्यक्त नारी के आत्मा और शरीर पर ये सिद्ध क्या बलात् अधिकार नहीं करते थे? थेरी गाथा की थेरियों की करुण गाथाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि उनके लौकिक जीवन और पारलौकिक साधना में कितने कष्ट थे।

सिद्धों के सिद्धान्तों के अनुसार चार आनन्दों- प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द की प्राप्ति स्त्री द्वारा ही संभव है। बौद्ध तंत्रों के मण्डल चक्र और मुद्रा मैथुन में स्त्रियों का उपभोग आवश्यक अनुष्ठान माना जाता था। किन्तु वे प्रज्ञा को परमात्म रूप में नैरात्म ज्ञान मानते थे और सम्वृत्ति रूप में देहधारी नारी रूप। अतः प्रज्ञा का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए पहले नारी-रूपिणी सम्वृत्त प्रज्ञा, देहधारिणी प्रज्ञा का उपभोग करना आवश्यक है।

नर-नारी तत्त्व के विद्वान विचारकों के अनुसार जब नर और नारी दोनों को प्रजनन का समान कारण मान लिया गया तब अनेक देशों में पहले पुरुष चिन्ह और बाद में नारी चिन्ह की उपासना आरम्भ हुई। शक्ति, शैव, वज्रयानी, सहजयानी, वैष्णव सहजिया, कृष्णभक्त आदि सभी सम्प्रदायों में स्त्री-पुरुष तत्त्व ही साधना का आकर्षण केन्द्र है। आगे चलकर कापालिक साधना में स्त्री-पुरुष के स्थूल दैहिक मिलन सुख को ही समरसता माना गया।

इन सिद्धों की रचनाओं में शान्त और श्रृंगार रस उपलब्ध होते हैं जिनमें अलौकिक आनन्द और आत्मतोष अवश्य होता है। भाव साधना के वास्तविक नायक और नायिका तो तथागत और उनकी भगवती नैरात्मा है। उसी विश्व व्याप्त प्रणय केलि को साधक, बोधि-चित्त को नायक और नैरात्म्य-ज्ञान को नायिका मानकर अपने चित्त में आयोजित करता है।

गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथपंथ में पतंजलि की हठयोग साधना को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। नाथपंथी साधना में विश्वास करते हैं। संयम और इंद्रियनिग्रह को नाथपंथी विशेष महत्त्व देते रहे। नारी, जिसे योगियों ने 'कामिनी' कहा है, को माया माना है। यह साधना में बाधा उपस्थित करती है। वह योगी को विषय वासना के प्रलोभन में फँसा लेती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, "ब्रह्मचर्य पालन में स्त्रीवर्जन, स्त्रीनिंदा आदि का रूप मिलता है। ब्रह्मचर्य का जीवन न बिता सकने वालों को अत्यन्त कठोर भाषा में स्मरण किया गया है।"(18) इसीलिए योगी कामिनी के प्रति उपेक्षा भाव ही नहीं रखता बल्कि उससे घृणा भी करता है। गोरखनाथ के सिद्ध-सिद्धान्तों में नारी के प्रति कठोर दृष्टिकोण अपनाया गया है। उनके अनुसार स्त्री और योग का कोई मेल नहीं है। मन को हमेशा किसी आलम्बन की आवश्यकता रहती है, निरालम्ब रहना दुस्साध्य है। वह या तो किसी आशा के फन्दे में फँसा रहेगा या फिर विरह अवस्था में रहेगा, या तो स्त्री की गोद में रहेगा या फिर गुरू की शरण में।

"कै मन रहै आसा पास। कै मन रहै परम उदास।।
कै मन रहै गुरु के औले। कै मन रहे कामनि के षौले।।"(19)

इस पर भी लोग हैं कि विषय के लोभ में तत्त्व को भूल गए हैं और घर में बाघिन रूपी स्त्री को पाल रहे हैं। वह दिन में सोती है और रात में शरीर का शोषण करती है। वह तो ऐसी राक्षसी है, जो बिना दाँतों के ही संसार को खाती रहती है। लोग मिथ्या संसर्ग के आनन्द में ही शरीर को क्षीण करते रहते हैं।

"दिवसे बाघिण मन मोहै राति सरोवर सोषै।
जाणि बूझि रे मूरिष लोया घरि-घरि बाघिण पोषे।।"(20)

इसी प्रकार अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है –

"भग राकसि लो भग राकसि लो, बिणदन्ता जग षाया लो।
ग्यानी हुता सु ग्यानमुष रहिया, जीव लोक आपे आप गंवाया लो।।
चामें चाम धसंता लोई, दिन दिन छीजै काया।
आपा परचे गुरुमुषि न चीन्हे, फाडि फाडि बाघिनी षाया।।"(21)

रात-दिन स्त्री के आलिंगन एवं निद्रा में बिताकर संसार विषयों में फंसता जा रहा है, इसलिए गोरखनाथ बार-बार कह रहे हैं, हे भाइयों! अपने मूल तत्त्व को इस प्रकार नष्ट मत करो।

"चारि पहर आलिंगन निद्रा, संसार जाइ विषया बाही।
ऊभी बाँह गोरख नाथ पुकारै, मूल न हारौ म्हारा भाई।।"(22)

स्त्री तथा पुरुष के संसर्ग का आकर्षण ही कुछ ऐसा है कि दोनों एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते, किन्तु संसार के इस भव सागर को पार करने के लिए, ब्रह्म-साक्षात्कार करने के लिए यह माध्यम छद्मपूर्ण है और इसीलिए दोनों नष्ट होते जा रहे हैं।

"रांडि तज्या न षसिया जीवै, पुरुष तज्या न नारी।
कहै नाथ ये दोन्यू विनसे धोषा की असवारी।।"(23)

नाथ योगी के लिए ब्रह्मचर्य, संयम, इंद्रिय-निग्रह करना आवश्यक होता है। ब्रह्मचर्य से वीर्य 'बिन्दु' है। इसीलिए योगी कामिनी को अपने पास रखने की सलाह नहीं देता। वह कहता है धन या यौवन, ये सभी साधना में बाधक हैं –

"धन जोवन की करै न आस।
चित्त न रासै कामिनी पास।।
नाद बिंदु जाकै घटि जरै।
ताकी सेवा पारवती करै।।"(24)

गोरखनाथ ने नारी के योनिरूप का घोर विरोध किया है। गोरखनाथ के अनुसार स्त्री के साथ सोना मृत्यु को बुलावा देना है। उसके साथ तो पानी भी नहीं पीना चाहिए –

"बामा अंगे सोहबा जम को भोगिवा।

संगे न पीवणां पाणी।।"(25)

स्त्री चाहे शिक्षित हो या अशिक्षित, योगी के पास बैठी हुई भी शोभा नहीं देती –

"पासि बैठी सोभै नहीं साथि रमाई मुंडि।
गोरष कहै असतरी कहा सलह कह भुंडि।।"(26)

गोरखनाथ ने इस प्रकार की कई सारी उक्तियों में नारी की कठोर शब्दों में निंदा की है। गोरखनाथ के इस प्रकार के दृष्टिकोण को समझने के लिए उनके समसामयिक परिस्थियों को समझना आवश्यक है। गोरखनाथ का आविर्भाव जिस समय हुआ था, वह काल भारतीय धर्म-साधना में बड़े उथल-पुथल का है। एक ओर मुसलमान भारत में प्रवेश कर रहे थे और दूसरी ओर बौद्ध-साधना क्रमशः तंत्र-मंत्र और जादू-टोने की ओर अग्रसर हो रही थी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इस संदर्भ में कहते हैं, "दसवीं शताब्दी में यद्यपि ब्राह्मण धर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था तथापि बौद्धों, शाक्तों और शैवों का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद को नहीं मानता था।"(27)

बौद्ध धर्म में हीनयान, महायान, वज्रयान आदि जैसे कई भेद हो गए थे और गोरखनाथ के समय तक ये सभी शाक्त में विलीन हो चुके थे। बौद्ध साधना में योनि पूजा और योनि भोग चरम सीमा पर पहुँच गया था। शैव कापालिकों में मद्यपान और स्त्री का प्रयोग निर्बाध रूप से होता था। यही पद्धति बौद्ध-सिद्धों ने भी अपनाई। शक्ति तत्त्व केवल योनि तत्त्व बनकर रह गया। उस समय बिना योनि पूजा के सारे कार्य निरर्थक थे इसीलिए स्वतंत्र तंत्र में निर्द्वन्द्व होकर कहा गया है –

"ततो नग्नां स्त्रियं नग्नो रमन्।"(28)

यह योनि-साधना दूसरी शताब्दी में शुरू हुई और गोरखनाथ का समय आते-आते अपने चरम पर पहुँच चुकी थी। किसी ने इस कुप्रवृत्ति को रोकने का प्रयास नहीं किया। सभी इसी में बहने लगे। उस समय गोरखनाथ ही एकमात्र ऐसे थे जिन्होंने इसके प्रति विरोध प्रदर्शित किया। इस युग के गिरते हुए जीवन को उठाने के लिए, पारमार्थिक उद्देश्य से विमुख धार्मिक चेतना को सजग करने के लिए, जन-साधारण में शुद्ध जीवन और सात्विक वृत्ति को जाग्रत करने के लिए, सामन्तों के घृणित यौवनाचार को समाप्त करने के लिए गोरखनाथ ने निर्मम हथौंड़े की चोट की, इसके लिए उन्होंने स्त्रियों के प्रति अगर कठोर दृष्टिकोण अपनाया तो इसमें कोई आस्चर्य नहीं। आश्चर्य तो यह है कि उस समय के इन सब वामाचारों में वे स्वयं नहीं फंसे।

साधना-पद्धति, राजतंत्र एवं समाज सभी जगह भोगवाद का बाहुल्य था। तत्कालीन भ्रष्ट ढ़ाँचे का थोड़ा-बहुत चित्रण गोरखनाथ की वाणियों में भी मिलता है। मद्यपान करना और स्त्रियों में रमे रहना उस समय के सिद्धों के लिए आम बात थी। गोरखनाथ ने नारियों में माता का रूप देखा और स्वयं एक बालक के रूप में सम्मुख हुए। वे कहते हैं –

"थान दे गोरिए गोरषबाला माई बिन प्याले प्याला।"(29)

वयस्क स्त्रियों के प्रति उनके हृदय में श्रद्धा थी। वे उनका माता के समान आदर करते थे। गोरखनाथ ने स्त्री को केवल माता के रूप में ही देखा है, जो स्नेह से बालक को पालती है, जिसमें वासना नहीं रहती। अत्यंत खेद से उन्होंने एक स्थान पर कहा है –

"जिन जननी संसार दिषाया, ताको ले सूते षोले।"(30)

गोरखनाथ गृहस्थ में युवती नारी को पतिव्रता के रूप में देखना चाहते थे। स्त्री के कामी रूप से उन्हें घृणा थी, नारियों को शीलयुक्त देखना चाहते थे, किन्तु जब उनके आदर्श के अनुकूल समाज में उन्हें ये सब नहीं दिखता था तो वे भावावेस में भ्रष्ट नर-नारियों के प्रति तीखे प्रहार करते थे।

"दासी नै नारी अरु घर द्वारी तुम्हें वेस्या करम न कीज्यो रे।
विधवा नारी नौ संग करेस्यो, तो रोमि-रोमि नरक षडोस्यो रे।।
एक बूंद के कारणि आप सवारथि, तुम्हें बाल हत्या फल लेस्यो रे।
नर-नारी दोन्यू नरक षडिस्यो, घाणी घाली पडेस्यो रे।।"(31)

दासियों, स्त्रियों और गृहिणियों के द्वारा वेश्याकर्म किया जाना, विधवाओं को योगिनी बना उनके साथ संसर्ग करना, बाल हत्या करना ये सारी कुरीतियाँ समाज में व्याप्त थीं, फिर भी साधारण समाज और गृहस्थ इतना घृणित नहीं था, जितना योगी-समाज। गोरखनाथ ने अपने उपदेशों में यद्यपि राजाओं और जन-साधारण को भी सचेत किया है, किन्तु नारी के प्रति जो अधिक कटुता है, वह योगि समाज को लेकर है।

गोरखनाथ जाने थे कि केवल फटकार लगाने से ही समस्या का हल नहीं हो सकता। भटके हुए भ्रष्ट योगियों को यौवनाचार से हटाने के लिए उन्होंने मनोविज्ञान का सहारा लिया और कहा कि एक भोग और भी है जो योनि भोग से सहीं अधिक आनन्ददायक है। मैंने तो अपने योगी मन को उसी भोग में लीन कर रखा है –

"माँहरा तो वैरागी जोगी, अहनिसि भोगी जोगिणी संग न छाड़ै।
मानसरोवर मनसा झूलती आवै, गगन-मंडल मठ माँडै रे।।"(32)

नारी और पुरुष के बाह्य शारीरिक चिन्ह भ्रामक हैं। बाह्य भेद मिथ्या है अतः अन्तःभाव को परखना चाहिए। केवल घर त्याग देने से ही कोई योगी नहीं बनता और न ही केवल गृहस्थी होने से कोई भोगी बनता है। योगी और भोगी तो अपने-अपने कर्मों के आधार पर बनते हैं। योगी बनने के लिए अन्तःमुखी साधना करनी होगी-

"जो भग देख भामिनी मानै। लिंग देख जो पुरुष प्रमानै।
जो बिन चिन्ह नपुंसक जोवा। कह गोरख तीनों घर खोवा।
जो घर त्याग कहावै जोगी। घर वासी को कहै जू भोगी।
अन्तर भाव न परषै जोई। गोरख बोले मूरष सोई।"(33)

तांत्रिकों आदि की भाँति राजाओं में भी विलासिता की भावना आ गयी थी, अतः राजाओं के लिए भी गोरखनाथ को उपदेश देना पड़ा-

"सांभली राजा बोल्या रे अवधू।
सुणौ अनोपम वाणी जी।
निरगुण नारी सुँनेह करंता।
झबकै रैणि बिहाणी जी।"(34)

जब भोग-विलास में झपकियाँ लेते हुए रातें बितायी जाएँगी, तो दिन में जनता का क्या हित किया जा सकता है।

नाथ-सिद्धों की बानियाँ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं, "बहुत संभव है कि मत्स्येन्द्रनाथ भ्रष्ट राजव्यवस्था के सुधार हेतु ही राजघरानों के सम्पर्क में आये हों और राजाओं के शरीर में प्रवेश किया हो तथा बाद में रानियों के साथ विहार करने के कारण वे भी अपने मार्ग से गिर गए हों। मत्स्येन्द्र कभी योग मार्ग के प्रवर्तक थे फिर संयोगवश एक ऐसे आचार में सम्मिलित हो गए जिसमें स्त्रियों के साथ अबाध संसर्ग मुख्य बात थी संभवतः यह वामाचार साधना थी।"(35)

गोरखनाथ ने नारी के योनि रूप का विरोध किया है और वीर्य की रक्षा का महत्त्व प्रतिपादित किया, किन्तु मात्र वीर्य की रक्षा ही गोरखनाथ का उद्देश्य नहीं था। गोरखनाथ का मूल उद्देश्य था आध्यात्मिक अनुभूति। आध्यात्मिक अनुभूति के बिना जो वीर्य मात्र के अर्थबंध क्रिया का आसरा ग्रहण करता है, उसका शरीर स्थिर नहीं होता –

"ब्यंद ब्यंद सब कोई कहे।
महा ब्यंद कोई बिरला लहै।।
रह ब्यंद भरोसे लावै बंध।
असथिरि होत न देषो कंधा।।"(36)

गृहस्थ की सामान्य नारी का उन्होंने सदैव सम्मान किया है। वे गृहस्थ जीवन के विरोधी नहीं थे। उन्हें ढोंगियों से चिढ़ थी। जो एक माया को छोड़ दूसरी माया में फँस जाते हैं। घर की सुन्दर स्त्री को छोड़कर किसी और स्त्री के साथ रहते हैं। गोरख एसीलिए अकेले रहते हैं। सब प्रपंचों का विरोध करते हुए कहते हैं –

"म्यंदर छाड़ै कुटी बँधावै। त्यागै माया और मँगावै।।
सुंदरि छाड़ि नकटी बासै। तातै गोरष अलगै न्हासै।।"(37)

गोरखनाथ की रचनाओं का विश्लेषण करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गोरखनाथ न तो स्त्री के विरूद्ध थे और न गृहस्थ-जीवन के प्रति ही कठोर दृष्टिकोण रखते थे, उन्हें उस वर्ग से चिढ़ थी जो योगी होने का दिखावा करते थे, किन्तु गृहस्थों से भी अधिक मोहमाया के जाल में फँसकर साधना के नाम पर घृणित कर्म करते थे। उन्होंने उस नारी रूप की आलोचना की है जो योगिनी के रूप में वेश्याकर्म किया करती थी। गोरखनाथ के समय के भ्रष्ट समाज ने उन्हें नारी के प्रति कठोर दृष्टिकोण अपनाने के लिए विवश कर दिया, जो स्वाभाविक था।

जैन साहित्य में जीवन की जटिलताओं और स्वाभाविक अनुभूतियों का चित्रण है। इनके साहित्य में प्रेरणा का विषय धर्म मात्र है। जैन धर्म में ब्रह्मचर्य पर अत्यधिक जोर देने के कारण ही नारी पर कई तरह के प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे। वैसे व्यवहार में जैन धर्म नारियों के प्रति आमतौर पर उदार रहा है। स्वयं भगवान वर्धमान महावीर ने चन्दनबाला को दीक्षा ही नहीं दी अपितु 'गणनि प्रमुख' भी बनाया था। आदिनाथ ने अपनी दोनों बेटियों- ब्राह्मी और सुन्दरी को दीक्षा दी थी। प्रद्युमन चरित्र में कवि संधारू ने सामंती संस्कृति के चित्रण के साथ-साथ जीवन की यथार्थता को भी चित्रित करने का प्रयास किया है। कवि ने "वियोग का ऐसा मार्मिक चित्र उपस्थित किया है जो मानवमात्र को संवेदना से सिक्त बना देता है।"(38) कवि संधारू नारियों के दुहरे चरित्र के संदर्भ में लिखते हैं कि "काल संबर की पत्नी कनकमाला प्रद्युम्न पर रीझती है और उसे प्राप्त करने के लिए नाना प्रयत्न करती है अंत में यह भेद कालसंबर से छिपा नहीं रहता। इस पर उसे बड़ा ही दुःख होता है।

जिससे वह इतना प्रेम करता है, वही उसे धोखा देती है। वह घृणा से स्त्रियों के चरित्र का कृष्ण पक्ष उद्घाटित करते हुए कहता है कि –

नीची बुधि तिम्ब रम्बु निहरइ।
उत्तिमु छोड़ि नीच संगइ।।"(39)

स्वयंभू रचित पउमचरिउ को उच्चकोटि का काव्य माना जाता है। अन्य जैन काव्यों की भाँति इस काव्य के आरंभ में भी ब्राह्मण मत की आलोचना की गई है, जो किसी धार्मिक आग्रह का परिणाम नहीं बल्कि तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम ज्ञात होती है। इसमें राम-सीता की कहानी है। यहाँ राम को साधारण मनुष्य के रूप में चित्रित किया गया है। उल्लास एवं अवसाद के भावों का समायोजन किया गया है।

पउमचरिउ के स्त्री पात्रों में भी आधुनिक स्त्री अस्मिता की झलक दिखाई देती है। कैकेयी युद्ध कला में निपुण है तथा युद्धभूमि में जाने में उसके मन में कोई हिचकिचाहट नहीं है। स्वयंभू ने इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है-

"मइँ जियन्ते अणरण्णहों णन्दणें। एउ भणेवि परिट्ठिउ सन्दणें।।
केक्कइ धुरहिं करेंप्पिणु सारहि। तहिं पयट्टु जहिं सयल महारहिं।।
तो वो लिज्जइ दसरहेंण दूरयर-णिवारिय-रवियरइँ।।
रहु वाहेविं तहिं णेहि पियए धय-छत्तइँ जेत्थु णिरन्तरइँ।।"(40)

इस पद में स्वयंभू कहते हैं, हे! अणरण्ण के पुत्र मेरे जीते जी, कौन इसे हरा सकता है। वह रथ पर चढ़ गया और कैकेयी धुरा पर सारथि बनकर जा बैठी। वह महारथियों के बीच गया। उसने अपनी नई पत्नी से कहा, प्रिये रथ हाँककर वहाँ ले चलो जहाँ अपने तेज से सूरज को हटाने वाले अनेक छत्र और ध्वज हैं।

इस पद में स्वयंभू ने कैकेयी की निडरता तथा युद्ध कौशल को चित्रित किया है। कैकेयी के कौशल से खुश होकर दशरथ ने उसे दो वरदान दिए थे। कैकेयी के समान ही उस समय के कई अन्य ग्रन्थों में भी हमें ऐसे स्त्री पात्र मिलते हैं जो आधुनिक स्त्री चरित्र के समान दिखाई देती हैं। कैकेयी साहसी, निडर तथा सभी कलाओं में निपुण थी। उसके चरित्र निर्माण में कवि ने उसकी छवि को स्त्री चेतना से भरपूर दिखाया है।

इस रचना में राम और सीता ईश्वरीय रूप में न होकर मनुष्य रूप में दिखाई देते हैं। कवि ने पात्रों की रचना बड़े ही सटीक ढ़ंग से किया है। पउमचरिउ को पढ़ते हुए कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि हम कोई

धार्मिक ग्रन्थ पढ़ रहे हैं बल्कि ऐसा लगता है कि वे सारे पात्र हमारे समाज में मौजूद हैं। इसमें सीता के चरित्र को हम आधुनिक स्त्री चरित्र से जोड़कर देख सकते हैं। एक पद में सूर्योदय होने पर विभीषण सीता से मिलने जाते हैं। वह अपने साथ बहुत सारे वस्त्र और आभूषण भी ले जाते हैं, परन्तु सीता उसे देखती भी नहीं हैं। वह कहती हैं –

"भलु केवलु आयइँ सव्वइ मि, जइ मणें मलिणु मणम्मणउ।

णिय-पइहें मिलन्तिहें कुल-वहुहें, सीलु जिहोइ पसाहणउ।।"(41)

अर्थात् यह सब मेरे लिए कचरे के समान है, चाहे मन में उन्मादक काम ही क्यों न हो, अपने पति से मिलते समय कुलवधु का एकमात्र प्रसाधन शील होता है। सीता की ऐसी वाकपटुता रचना में बहुत स्थानों पर दिखाई देती है। वह किसी के सामने भयभीत नहीं होती, ना ही धन-धान्य का लालच ही है। वह अपने वचन पर प्रतिबद्ध रहती हैं।

एक पद में विभीषण ने सीता से पूछा है कि आप हनुमान के साथ क्यों नहीं गईं, तब सीता स्त्रियों के प्रति समाज के दृष्टिकोण को लक्षित करते हुए कहती हैं –

"विणु णिय भत्तारें जन्तियहें, कुलहरू जें पिसुणु कुलउत्तियहें।

पुरिसहुँ चित्तइँ आसीविसइँ, अलहन्त विउद्दिसन्ति मिसइँ।

वीसासु जन्ति णउ इयरहुमि। सुय-देवर-भायर-पियरहु मि।।"(42)

अर्थात् बिना पति के जाने वाली कुल पत्नी पर कुलधर भी कलंक लगा देते हैं, पुरूषों के चित्त जहर से भरे होते हैं, कोई गलती नहीं होने पर भी वे कलंक दिखाने लगते हैं, दूसरों का तो वे विश्वास ही नहीं करते, यहाँ तक कि पुत्र, देवर, भाई और पिता का भी नहीं।

जब राम वनवास से आने के पश्चात् प्रजा द्वारा सीता के चरित्र पर उंगली उठाए जाने पर उन्हें पुनः वनवास भेज देते हैं तब सीता देवी ईश्वर को सम्बोधित करते हुए कहती हैं कि मुझसे ऐसा कौन सा पाप हो गया जिससे श्रीराम ने मुझे त्याग दिया। वह ईश्वर को कोसती हुई कहती हैं-

"वरि तिण-सिह वरि वणें वेल्लडिय, वरि सिल लोयहुँ पाण-पिय।

दूहव-दुरास-दुह-भायणिय, णउ मइँ जेही का वि तिय।।"(43)

अर्थात् तिनके का शीखा बन जाना अच्छा, वन में लता बन जाना अच्छा, लोगों के लिए प्राणों से प्यारी चट्टान बन जाना अच्छा, परन्तु कोई स्त्री मेरे समान अभाग्य, निराशा और दुःख की पात्र न बने।

जब राम अयोध्या से लोगों को सीता को लेने के लिए भेजते हैं तो वह राम को कोसती हुई कहती हैं –

"णिट्ठुर-हियह हों अ-लइय-णामहों। जाणमि तत्ति ण किज्जइ राम हो।।
घल्लिय जेण रुवन्ति वणन्तरे। डाइणि रक्खस-भूय-भयङ्करे।।
जहिं सइलू-सीह-गय-गण्डा। वव्वर-सवर-पुलिन्द-पयण्डा।।
जहिं वहु तच्छ रिच्छ-रुरु-सम्वर स-उरग-खग-मिग-विग-सिव-सूयर।।
जहि माणुसु जीवन्तु वि लुञ्चर। विहि-कलि-कालु वि पाणहुँ मुञ्चइ।।
तहिं वणें घल्लाविय अण्णाणें। एवहिं कि तहों तणेण विमाणे।।
जो तेण डाहु उप्पाइयउ। पिसुणालाव मरीसिएण।।
सो दुक्करु उल्हाविज्जइ। मेह-सएण वि वरिसिएण।।"(44)

अर्थात् उस पत्थर हृदय राम का नाम मत लो। उनसे मुझे कभी सुख नहीं मिला, मैं यह जानती हूँ। जिसने रोती हुई मुझे डाइनों, राक्षसों और भूतों से भयंकर वन में छुड़वा दिया, जिसमें बड़े-बड़े सिंह, शार्दूल, हाथी और गेंडे थे। बर्बर शवर और प्रचण्ड पुलिन्द थे। जिसमें तक्षक, रीछ और रुरु, सांभर थे। जिसमें साँप, पक्षी, मृग, भेड़िए, सियार और सुअर थे, जिसमें जीवित मनुष्य को फाड़ दिया जाता और जिसमें यम और विधाता भी अपने प्राणों को त्याग देते। जिसने बिना पुछे मुझे वन में छुड़वा दिया, अब उनके विमान भेजने का क्या मतलब? चुगलखोरों के कहने पर उन्होंने मुझे जो आघात पहुँचाया है, उसकी जलन, सैकड़ों मेघों की वर्षा से भी शान्त नहीं हो सकती।

राम सीता के आने के बाद उनका परिहास उड़ाते हुए कहते हैं –

"जइ वि कुलुग्गयाउ णिर वज्जउ। महिलउ होन्ति सुट्ठु णिल्लज्जउ।
दर-दाविय कडक्ख-विक्खेवउ। कुडिल-मइउ वङ्किय-अवलेवउ।
वाहिर-थिट्ठउ गुण-परिहीणउ। किह सय-खण्डण जन्ति णिहीणउ।

णउ गणन्ति णिय-कुलु मइलन्तउ। तिहुअणें अयस-पडहु वज्जन्तउ।
अङ्गु समोड्डे वि धिद्धिक्कारहों। वयणु णिएन्ति केम मत्तारहों।।"(45)

अर्थात् स्त्री चाहे कितनी ही कुलीन और अनिंद्य हो, वह बहुत निर्लज्ज होती है। भय से वे कटाक्ष तिरछे दिखाती हैं, परन्तु उनकी मति कुटिल होती है, और उनका अहंकार बड़ा होता है। बाहर से ढ़ीठ होती हैं और गुणों से रहित। उनके सौ टुकड़े भी कर दीजिए परन्तु फिर भी हीन नहीं होतीं। अपने कुल में दाग लगाने से भी वे नहीं झिझकती और न इस बात से कि त्रिभुवन में उनके अयश का डंका बज सकता है। अंग समेटकर धिक्कारने वाले पति को कैसे अपना मुख दिखाती हैं।

इस प्रकार के कटु वचनों को सुनकर सीता को क्रोध आ जाता है, परन्तु सीता अपने सतीत्व के विश्वास से जरा भी नहीं डरीं। सीता ने ईर्ष्या और गर्व से भरकर राम से कहा –

"पुरिस णिहीण होन्ति गुणवन्त वि। तियहें ण पत्तिजन्ति मरन्त वि।
खडु लक्कडु सलिलु वहन्ति यहें। पउराणियहें कुलुग्गयहें।
रयणायरु खारइँ देन्तउ। तोविण थक्कइ णम्म यहें।।"(46)

अर्थात् आदमी चाहे कमजोर हो या गुणवान स्त्रियाँ मरते दम तक उसका परित्याग नहीं करतीं। पवित्र और कुलीन नर्मदा नदी, रेत, लकड़ी और पानी बहती हुई समुद्र के पास जाती हैं, फिर भी वह उसे खारा पानी देने से नहीं अघाता।

सीता का इस प्रकार से राम के गर्व को तोड़ना बीसलदेव रासो की राजमती में भी देखा जा सकता है, जहाँ वह राजा के गर्वोक्ति को तोड़ती है। सीता अनेक उपमानों द्वारा अपनी बात को रखती है। वह कहती हैं कि श्वान को कोई आदर नहीं देता, चाहे वह गंगा में स्नान करके आया हो। चन्द्रमा में कलंक होता है फिर भी उसकी प्रभा निर्मल है। मेघ काले होते हैं, परन्तु उनकी बिजली गोरी होती है। पत्थर अपूज्य होता है, परन्तु उसकी प्रतिमा का चन्दन से लेप होता है। दीपक स्वभाव से काला होता है, परन्तु अपनी बत्ती की शिखा से आले की शोभा बढ़ाता है। नर और नारी में अन्तर है तो यही कि मरते-मरते भी लता पेंड़ का सहारा नहीं छोड़ती। तुमने यह सब क्या बोलना प्रारम्भ किया है, मैं आज भी सतीत्व का पताका ऊँची किए हुई हूँ। इसीलिए तुम्हारे देखते हुए भी मैं विश्रब्ध हूँ। आग यदि मुझे जलाने में समर्थ हो तो मुझे जला दे।

सीता का चरित्र प्रारंभ में मौन मिलता है किन्तु जब पति द्वारा दुबारा उनकी अग्नि परिक्षा लेकर उनके सतीत्व को परखने के लिए वन से नगर में लाया जाता है तब सीता का मन विद्रोह करता है, वह प्रतिहिंसा से भर जाती हैं। वह राजमहल में उपस्थित नगरवासियों को चुनौती देती हुई कहती हैं, तुम विश्वस्त होकर देखते रहो, आग यदि समर्थ हो तो मुझे जलाए। सीता आग में प्रवेश करती हैं और ज्यों की त्यों निकल आती हैं। अग्नि परीक्षा देते समय सीता कहती हैं –

"अहों देवहों महु तणउ सइत्तणु। जो एज्जहों रहुवइ-दुद्ढत्तणु।
अहों वइसाणर तुहु मिडहेज्जहि। जइ विरुआरी तो म खमेज्जहिं।।"(47)

अर्थात् अरे देवताओं और मनुष्यों, आपलोग मेरा सतीत्व और राम की दुष्टता, अपनी आँखों से देख लें। हे अग्नि देव, आप जलें, यदि मेरा आचरण अपवित्र है, तो मुझे कदापि क्षमा न करें।

राम का मन अपराध बोध से भर जाता है और वह सीता से क्षमा याचना करते हैं, परन्तु सीता का मन विराग से भर चुका है। वह कहती हैं –

"एवहिं तिह करेमि पुणु रहुवइ।
जिह ण होमि पडिवारी तियमइ।।"(48)

अब तो ऐसा करूँगी, जिससे फिर कभी स्त्री न बनना पड़े। जो सीता आरम्भ से इतनी मौन और शान्त मिलती हैं, वह सीता अंत में सांसारिक व्यवहारों तथा इस प्रकार की कुरीतियों से विरक्त होकर पति की प्रार्थना को भी अस्वीकार कर देती हैं। स्त्री करूणा को चित्रित कर स्वयंभू ने सामंती मानसिकता में नारी जीवन के यथार्थ चित्र उपस्थित किए हैं। सामंती युग में स्त्रियों का अधिकार ही क्या था? तो भी सिद्ध युग तथा बाद की शताब्दियों की अपेक्षा उनकी अवस्था कुछ बेहतर जरुर थी। स्वयंभू ने सीता का जो रूप रावण को जवाब देते और अग्नि परीक्षा के समय चित्रित किया है, पीछे उसका कहीं पता नहीं लगता।

जैन धर्म में नारी की जो प्रशंसा की गयी है वह इसी तरह के शील, सतीत्व और आचरण की पवित्रता को प्रतिष्ठित और रेखांकित करने के लिए। स्वयंभू के मन्दोदरी के चरित्र की इसलिए प्रशंसा की गयी है कि वह रावण जैसे दुष्ट पति के लिए भी दौत्य-कार्य स्वीकार करती है जो दौत्य-कार्य नारी के लिए प्रसव-पीड़ा से भी

अधिक कष्टदायक है। दृढ़ पतिव्रता मन्दोदरी इस कार्य के लिए भी तत्पर होती है और सीता के व्यंग्य का अपमान गरल हँसते-हँसते पी जाती है।

इस रचना के स्त्री पात्रों की वाकपटुता तथा अपने स्वयं के प्रति चेतना उन्हें आधुनिक समाज की स्त्रियों के समीप खड़ा करती है। कैकेयी, सीता या मन्दोदरी सभी स्त्री पात्र अपनी स्वतंत्रता के प्रति सजग दिखाई देती हैं तथा समाज के दकियानुसी रिवाजों पर प्रश्न खड़ा करती हैं जैसा कि आधुनिक स्त्री विमर्श में दिखाई देता है।

चंदनबाला रास में कवि आसगु ने नारी जीवन की करुणा को बड़ी सहृदयता के साथ रचना में उपस्थित किया है। इस काव्य से ज्ञात होता है कि विविध प्रकार की कुरीतियों से बँधे समाज में नारी की स्थिति कितनी दयनीय थी। उस समाज में नारी का वस्तु या संपत्ति की तरह हरण या वरण किया जाता था। इस रचना में चंदनबाला का अपहरण कर उसे एक सेठ के यहाँ बेंच दिया जाता है। सभी प्रकार के कष्टों और दुःखों के उपरांत भी चंदनबाला अपने नारीत्व की रक्षा करती है।

जैन मुनि हेमचंद्र अपनी विद्या और पाण्डित्य के लिए जाने जाते हैं। हेमचंद्र की नायिका में जीवंतता के साथ-साथ जिजीविषा है और वह कर्ममय जीवन पर बल देती है। इसीलिए नायिका नायक से उस देश में चलने को कहती है जहाँ खड्गों का व्यवसाय होता हो। हेमचंद्र के प्राकृत पैंगलम् में उद्धृत दोहे को देखा जा सकता है –

“भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि म्हारा कंतु।

लज्जेज तु वयंसि, अहु जइ भग्गा घर एंतु।।

एक महिला अपनी सखी से कहती है कि भला हुआ जो वह (मेरा पति) मारा गया। हे बहन, हमारा कंत (प्रिय) यदि भागा हुआ घर आता, तो मैं अपनी सखियों में लज्जित होती।”(49)

निश्चित रूप से बौद्ध धर्म ने पत्नी, पुत्री, माँ, बहन के इतर स्त्री को एक मनुष्य का दर्जा दिया। हिन्दू धर्म ग्रंथों में प्रचारित था कि स्त्रियों को पति सेवा से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, उन्हें अलग से मोक्ष अथवा मुक्ति हेतु प्रयास करने की आवश्यकता नहीं। गौतम बुद्ध ने शास्त्रों के इस मत को भ्रामक बताया और कहा कि पुरुष के समान ही स्त्री भी अपने पूर्व जन्म के सत्-असत् कर्मों के फल भोगती है अतः स्त्री को अपने कर्मों पर ध्यान देना चाहिए। हिन्दू धर्मशास्त्रों में पुत्रवती स्त्री को अत्यन्त महत्त्व देते हुए उसे स्वर्ग की अधिकारिणी माना गया परन्तु बुद्ध ने इसे मिथ्या बताते हुए पुत्र एवं पुत्री दोनों को समान महत्त्व दिया। हिन्दू धर्म शास्त्रों में स्त्रियों के लिए विवाह को आवश्यक माना गया था, लेकिन बौद्ध धर्म में इसे आवश्यक नहीं माना गया।

बौद्ध धर्म में सधवा, विधवा, वेश्या, वंध्या, विवाहित, अविवाहित सभी स्त्रियों को समान महत्त्व दिया गया। यद्यपि गौतम बुद्ध प्रारंभ में स्त्रियों को संघ में दीक्षित करने के पक्ष में नहीं थे परन्तु बाद में उन्होंने संघ के द्वार स्त्री-पुरुष सबके लिए खोल दिया। लेकिन संघ में स्त्री-पुरुष और भिक्षुओं के लिए अलग-अलग नियम थे, उन्हें बराबरी का स्थान प्राप्त नहीं था। किसी भी भिक्षुणी को, भिक्षु के सामने झुक कर अभिवादन करना पड़ता था, जबकि भिक्षुओं के लिए ऐसा नियम नहीं था। किसी भी परिस्थिति में एक भिक्षुणी, भिक्षु की अवज्ञा नहीं कर सकती थी, उसे हर हाल में भिक्षु की आज्ञा का पालन करना होता था। इसके बावजूद बौद्ध धर्म ने स्त्रियों को वर्ण तथा अन्य संकीर्णताओं से निकाल कर समाज में उन्हें एक ऐसा स्थान दिया जो निकट अतीत में उन्हें प्राप्त नहीं था। लेकिन बौद्ध धर्म में तप और विराग को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है तथा इस विराग और सांसारिक कामनाओं से मुक्ति में स्त्री को बाधक माना गया। इसी कारण जातकों (बौद्ध धर्म की धार्मिक पुस्तकें) में स्त्री निन्दा के अनेक प्रकरण पाए जाते हैं।

जैन काव्यों में भी नारी को लेकर परस्पर विरोधी धारणाएँ विद्यमान हैं। एक ओर इसमें स्त्री के माता रूप को अपरिमित श्रद्धा और आदर दिया गया है तो दूसरी ओर नारी मात्र को काम का साधन, वासना का मूल समझकर उसे त्याज्य बताया गया है। जैन धर्म में उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लीनाथ का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। मल्लीनाथ के जीवन वृत्तांत से स्पष्ट है कि उस युग में उच्चवर्गीय स्त्रियों के लिए शिक्षा का उचित प्रबंध था। जैन काव्यों में स्थूल भद्र की सात बहनें यक्षादि और याकिनी महत्तरा की रचनाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इससे स्पष्ट है कि जैन धर्म में स्त्रियों को आदर के भाव से देखा जाता था और स्त्रियाँ अधिक संख्या में भी इस धर्म में दीक्षित होती थीं। लेकिन बौद्ध धर्म के समान ही जैन धर्म में भी यह मान्यता थी कि मोक्ष के लिए संसार से संन्यास आवश्यक है। इस सांसारिक कामनाओं से मुक्ति में स्त्रियों को सबसे बड़ा बाधक माना गया। जैन धर्म आगे चलकर दो सम्प्रदायों में बंट गया श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में स्त्रियों को प्रवेश की अनुमति थी अर्थात् स्त्री भिक्षुणी हो सकती थी, लेकिन दिगम्बर सम्प्रदाय में स्त्रियों का प्रवेश वर्जित था। दिगम्बर स्म्प्रदाय का मानना था कि मुक्ति स्त्रियों के लिए नहीं है। स्त्रियाँ अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए सद्कर्म करें, जिससे उन्हें अगले जन्म में पुरुष का तन प्राप्त हो, तभी वे मुक्ति प्राप्त कर सकती हैं। इस प्रकार जैन काव्यों में भी स्त्रियों को लेकर विरोधी भाव विद्यमान था।

जैन साहित्य धर्म, आध्यात्म और शास्त्र के समक्ष नारी की भावनाओं और अनुराग का कोई महत्व नहीं दर्शाता है। इन्होंने अपने धार्मिक आग्रहों के द्वारा नारी को शृंगार से करुण और करुण से शांत भावोन्मुख दिखाया है। तत्कालीन रुढ़ सामाजिक मान्यताओं में नारी का अंकन किया है। नारियों के नकारात्मक पक्ष को उभारकर समाज के समक्ष रखने का कार्य भी किया है।

सिद्ध, नाथ, जैन आदि रचनाओं में स्त्रियों का वर्णन भोग्या के रूप में न होकर, माया या योगिनी के रूप में मिलता है। उस समय की सामाजिक परिस्थितियों को यदि देखा जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी रचनाओं में नारी के इस रूप का वर्णन कर, उन्हें भोग प्रवृत्ति में लिप्त समाज से बाहर लाने का प्रयत्न किया गया है। जिस प्रकार की कुप्रथाएँ उस समय के समाज में नारियों पर बलात् थोपी गई थीं, उससे स्त्रियों का जीवन कष्टपूर्ण था। ऐसे समाज में आध्यात्म के माध्यम से नागरिकों को भोग विलास से बाहर निकालने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ –

1. राजे, सुमन, हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, चौथा संस्करण, पृष्ठ संख्या-18
2. वही, पृष्ठ संख्या-18
3. वही, पृष्ठ संख्या-20
4. वही, पृष्ठ संख्या-99
5. वही, पृष्ठ संख्या-98
6. वही, पृष्ठ संख्या-98
7. वही, पृष्ठ संख्या-98
8. वही, पृष्ठ संख्या-99-100
9. वही, पृष्ठ संख्या-23
10. वही, पृष्ठ संख्या-96
11. राजे, सुमन, साहित्येतिहास (आदिकाल), ग्रंथम प्रकाशन, रामबाग (कानपुर), 1976, पृष्ठ संख्या-120
12. साहा, कुमार रणजीत, सहज सिद्ध साधना एवं सर्जना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980, पृष्ठ संख्या-165-166
13. सिंह, बच्चन, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृष्ठ संख्या-29
14. साहा, कुमार रणजीत, सहज सिद्ध साधना एवं सर्जना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980, पृष्ठ संख्या-167
15. सिंह, बच्चन, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृष्ठ संख्या-32
16. साहा, कुमार रणजीत, सहज सिद्ध साधना एवं सर्जना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980, पृष्ठ संख्या-166-167

17. उपाध्याय, विश्वम्भरनाथ, भारतीय साहित्य के निर्माता सरहपा, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2004, पृष्ठ संख्या-62
18. राजे, सुमन, साहित्येतिहास (आदिकाल), ग्रंथम प्रकाशन, रामबाग, कानपुर, 1976, पृष्ठ संख्या-215
19. डॉ. सिंह, कमल, गोरखनाथ और उनका साहित्य, कुसुम प्रकाशन, मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश), द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या-55
20. वही, पृष्ठ संख्या-55
21. सं. डॉ. बड़थ्वाल, पीताम्बरदत्त, गोरखबानी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1960, पद संख्या-48
22. वही, पद संख्या-1
23. डॉ. सिंह, कमल, गोरखनाथ और उनका साहित्य, कुसुम प्रकाशन, मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश), द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या-55
24. सं. डॉ. बड़थ्वाल, पीताम्बरदत्त, गोरखबानी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1960, पृष्ठ संख्या-137
25. डॉ. सिंह, कमल, गोरखनाथ और उनका युग, कुसुम प्रकाशन, मुजफ्फरनगर (उ. प्र.), पृष्ठ संख्या-56
26. वही, पृष्ठ संख्या-56
27. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, नाथ-सिद्धों की बानियाँ, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, भूमिका, पृष्ठ संख्या-11
28. डॉ. सिंह, कमल, गोरखनाथ और उनका युग, कुसुम प्रकाशन, मुजफ्फरनगर (उ. प्र.), पृष्ठ संख्या-58
29. वही, पृष्ठ संख्या-58
30. वही, पृष्ठ संख्या-59
31. वही, पृष्ठ संख्या-59
32. वही, पृष्ठ संख्या-59
33. वही, पृष्ठ संख्या-60
34. वही, पृष्ठ संख्या-60
35. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, नाथ-सिद्धों की बानियाँ, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, भूमिका, पृष्ठ संख्या-6
36. डॉ. सिंह, कमल, गोरखनाथ और उनका युग, कुसुम प्रकाशन, मुजफ्फरनगर (उ. प्र.), पृष्ठ संख्या-62
37. वही, पृष्ठ संख्या-62

38. पाण्डेय, शंभूनाथ, आदिकालीन हिन्दी साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ संख्या-63
39. वही, पृष्ठ संख्या-64
40. अनुवादक, श्री जैन, देवेन्द्र कुमार, पउमचरिउ, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या-5-6
41. वही, पृष्ठ संख्या-87
42. वही, पृष्ठ संख्या-87
43. वही, पृष्ठ संख्या-151
44. वही, पृष्ठ संख्या-186-187
45. वही, पृष्ठ संख्या-188-189
46. वही, पृष्ठ संख्या-189
47. वही, पृष्ठ संख्या-191
48. वही, पृष्ठ संख्या-199
49. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ संख्या-35

उपसंहार

नारी सशक्तिकरण के इस दौर में भारतीय नारी-विषयक दृष्टिकोण की प्रासंगिकता आज सम्पूर्ण विश्व में फैल रहा है। नारी अब अबला, पराश्रिता या सुकोमला नहीं रही, वह हर कार्य क्षेत्र के संघर्षों, चुनौतियों और संकटों में अपनी रचनात्मकता तथा शक्ति रूपा छवि के साथ विशेष रूप से उजागर होने लगी है। वह क्षमा, दया, वात्सल्य, स्नेह आदि की प्रतिमूर्ति तो है ही, परिवार तथा समाज के निर्माण एवं विकास में हर प्रकार से अपना योगदान दे रही है। वह श्रद्धा और सम्मान की अधिकारिणी हमेशा रही है, परन्तु अब वह अपनी कर्मशील, कौशलयुक्त तथा अधिकार से सम्पन्न छवि के साथ अपने जीवन में नए पथ की ओर अग्रसर हो रही है। पूर्ववर्ती कालों में नारी के अशिक्षित माया रूप की स्वीकृति नहीं हुई थी, परन्तु विद्या माया रूप की सदैव स्वीकृति तथा स्तुति होती रही है। आधुनिक युग में नारी विधि के क्षेत्र में, चिकित्सा के क्षेत्र में, रक्षा एवं युद्ध के क्षेत्र में तथा वैज्ञानिक आदि क्षेत्रों में किसी से पीछे नहीं हैं।

ऐसे तो पूरे विश्व में स्त्री के साथ कम अन्याय नहीं हुआ है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में वह अपने को सदैव शोषित तथा हाशिए पर खड़ा पाती है। संघर्ष का यह नैरन्तर्य उसे हमेशा अपनी भूमिका के बारे में सोचने तथा कुछ करने के लिए बाध्य करता रहा है। वैदिक काल से आधुनिक काल तक यदि हम स्त्री संघर्ष का इतिहास देखें तो हमारे सामने ऐसे सैकड़ों उदाहरण उपस्थित हो जाएँगे जिसमें स्त्री ने हर कार्यक्षेत्र में आदर्श उदाहरण स्थापित किए हैं।

अस्मिता की खोज में स्त्री ने पुरुषवादी धार्मिक आस्थाओं को नकारना प्रारम्भ कर दिया है। क्योंकि आज की स्त्री अपनी पहचान के लिए स्वयं जागरूक है। वह किसी पुरुष के आश्रित होकर आगे नहीं बढ़ना चाहती, उसे तो सिर्फ सम्मान भरा नजरिया चाहिए जो उसके व्यक्तित्व को पहचान दिला सके और इसी पहचान के बल पर वह पितृसत्तात्मक समाज के चले आ रहे मनोविज्ञान रूपी सोच पर विराम चिन्ह लगाना चाहती है।

आज स्त्री लेखन का मुख्य ध्येय यही है कि दुनिया की इस आधी आबादी को कैसे अपने यथार्थ का भान कराया जाए और परम्परागत बुराईयों तथा दुष्प्रवृत्तियों से मुक्ति दिलाई जाए। इस प्रकार के लक्ष्य को लेकर चलने वाला लेखन स्त्री-लेखन ही है।

स्त्री-अस्मिता इस अर्थ में विशिष्ट है कि 'मुक्ति' की यह अवधारणा सर्वसमावेशी है। अपने आँचल के नीचे स्त्री मुक्ति, अन्य शोषित-वंचित अस्मिताओं की मुक्ति का भी सपना लेकर चलती है। जिस प्रकार एक स्त्री को शिक्षित करना पूरे परिवार को शिक्षित करना है, उसी प्रकार स्त्री-मुक्ति में ही सबकी मुक्ति है।

हमेशा से स्त्री को समाज का आधा अंग माना जाता रहा है। इसी आधे अंग को आधार बनाकर सदियों से साहित्य की रचना की जाती रही है। स्त्री के बिना जिस प्रकार जीवन की कहानी अधूरी है, उसी प्रकार स्त्री के

बिना साहित्य भी अधूरा है। समय में परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य में नारी व उसके स्वरुप चित्रण में भी परिवर्तन होते रहे हैं। कभी उसे मात्र काम्या या रमणीया रूप में प्रस्तुत किया गया तो कभी उसके प्रति श्रद्धाभाव व्यक्त किया गया।

हमारी भारतीय सभ्यता और साहित्य का प्राचीनतम समय वैदिक युग को ही माना जाता है। इस युग में नारी जीवन के सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकारिणी थी। वैदिक युग में जीवन के किसी भी सुख की कल्पना स्त्री को अलग रखकर नहीं की जा सकती थी। यज्ञ आदि में सहचरी का साथ होना आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य था।

वैदिक-काल में नारी को समाज में आदरणीय एवं उच्च स्थान प्राप्त था। उसको शिक्षा के क्षेत्र में भी समान अधिकार प्राप्त थे। वह चाहे तो आजीवन शिक्षा प्राप्त कर सकती थी। सामाजिक जीवन में भी उसे प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने का पूर्ण अधिकार था। वैवाहिक स्थिति भी उस समय स्त्रियों के लिए प्रतिकूल नहीं थी। बाल-विवाह का प्रचलन नहीं था। अपनी इच्छानुसार स्त्रियाँ विवाह कर सकती थीं। धार्मिक क्षेत्र में वह न केवल यज्ञोपवित धारण करती थी अपितु उसे वेदाध्ययन करने तथा यज्ञ आदि में भाग लेने का भी पूर्ण अधिकार था। लोपामुद्रा, गार्गी, मैत्रेयी जैसी अनेक मन्त्रद्रष्टा स्त्रियाँ इसी युग की उपज हैं। जिनके द्वारा रचित सूक्त और उनमें निहित उदात्त भाव आज भी भारत की चिन्तनशील नारी का उद्घोष करते हैं।

पौराणिक युग में यद्यपि नारी का सामूहिक व्यक्तित्व पर्याप्त रूप से आकर्षक तथा भव्य दिखाई देता रहा परन्तु फिर भी इस काल में स्त्रियों के स्वतंत्र व्यक्तित्व पर सामाजिक प्रतिबन्धों का श्री गणेश हो चुका था। नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व को पुरुष द्वारा संरक्षण के नाम पर उनके अधीन किया जाने लगा। मनुस्मृति में जहाँ एक तरफ नारी को देवताओं के समान पूजनीय बताया गया है वहीं दूसरी जगह से उसे कौमार्य में पिता के, यौवन में पति के तथा वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहने की बात करके उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को दबा दिया गया। अतः नारी जीवन में अकेले यात्रा करने के अयोग्य मानी गई और उसे अबला कहकर उसकी रक्षा के लिए पुरुष का संरक्षण अनिवार्य कर दिया गया।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल राजनीतिक संघर्षों, सामाजिक उथल-पुथल एवं धार्मिक क्रांति का काल रहा है। इस काल की अधिकांश रचनाएँ राजा-महाराजाओं के जीवन चरित्र तथा उनकी वीरता और प्रेम संबंधों पर आधारित हैं। इन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के गुणों का वर्णन अतिरंजनापूर्ण किया है। रीतिकालीन कवियों की भाँति इन कवियों ने भी अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए नायिका-भेद तथा नखशिख वर्णन किया है।

हिन्दी का आदिकालीन साहित्य सिद्ध, नाथ, जैन सम्प्रदायों तथा वीरगाथाओं के रूप में उपलब्ध होता है। आठवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म में तांत्रिक क्रियाएँ प्रचुर मात्रा में प्रविष्ट हो गयी थीं, जिसके परिणामस्वरूप निवृत्ति परक बौद्ध धर्म प्रवृत्तिपरक हो गया। सरहपा ने स्पष्ट शब्दों में मोक्ष प्राप्ति के लिए खाने, पीने और सुख से रमण करके जीवन यापन करने की शिक्षा दी और ऐन्द्रिय भोग के लिए गुह्य साधना प्रारम्भ हो गयी। मद्यपान और डोमिनी, रजकी के साथ भोग करने का उपदेश सिद्ध लोग देने लगे। सिद्धों के प्रभाव से उस समय की नारियाँ पारिवारिक, लौकिक तथा विधि निषेध के अतिक्रमण को तत्पर हो उठीं।

समाज में स्त्री की स्थिति दयनीय थी। थेरियों की रचनाओं में इसका स्पष्ट रूप देखा जा सकता है। अपनी सामाजिक स्थिति से तंग आकर स्त्रियाँ बौद्ध धर्म में दीक्षित हुईं। प्रारम्भ में बौद्ध धर्म में भी स्त्रियाँ प्रतिबन्धित थीं। परन्तु कुछ समय पश्चात् उन्हें बौद्ध धर्म में आने की अनुमति मिली। उस समय थेरी गाथाओं के अतिरिक्त अन्य कोई स्त्री द्वारा रचित ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। थेरियों ने इन ग्रन्थों में अपने जीवन तथा सामाजिक स्थिति का वर्णन किया है। बौद्ध धर्म में जाति, वर्ग को लेकर कोई भेदभाव नहीं था। परन्तु इसमें भी स्त्री को पुरुष भिक्षुओं से निम्न माना जाता था। भिक्षुणियों को उनकी आज्ञा का पालन करना होता था तथा उनसे झुककर रहना होता था। संघ में भी भिक्षुणियों के साथ स्त्री होने के कारण भेदभाव किया जाता था। इसका उदाहरण हम थेरीगाथाओं में देख सकते हैं।

आदिकालीन समाज में नारियों की स्थिति अच्छी नहीं थी। उन पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे। समाज में ऊँच-नीच तथा जाति का विभाजन हो गया था। सबसे ज्यादा प्रतिबन्ध रानियों तथा सम्भ्रांत परिवार की कन्याओं पर लगाए गए थे। तभी विरहावस्था में रानियाँ अपने पति से दूर रहने की अपेक्षा, जाटनी बनकर अपने पति के साथ खेत में काम करना ज्यादा श्रेयस्कर समझती थीं। यद्यपि उस समय समाज में अनेक प्रकार की कुप्रथाएँ तथा रीति-रिवाज व्याप्त थे फिर भी साहित्य के कुछ स्त्री पात्र इन बन्धनों को तोड़ती हैं तथा अपनी इच्छानुसार अपना निर्णय लेती हैं न कि किसी के दबाव में आकर।

पृथ्वीराज रासो मूलतः पृथ्वीराज के युद्धों तथा उसके वीरता का गुणगान है फिर भी इस ग्रन्थ में ऐसे कई स्त्री पात्र हैं जो उस समाज की बेड़ियों को तोड़ती हुई नजर आती हैं। पृथ्वीराज रासो की संयोगिता हिन्दी काव्य की ऐसी प्रथम नायिका है जिसमें कवि ने रूप-गुण-शील का वर्णन करने के साथ ही साथ उसके हृदय में पृथ्वीराज के लिए अनुराग भी जागृत कर दिया है। संयोगिता एकनिष्ठ प्रेम की दृष्टि से हिन्दी काव्य की नायिकाओं का सही प्रतिनिधित्व करती है। रूप-गुण से सम्पन्न संयोगिता का पृथ्वीराज के प्रति बढ़ता प्रेम अनेक अवरोधों के होते हुए भी अधिकाधिक मुखर हो उठा है। जहाँ एक ओर संयोगिता में हम नारी सुलभ दुर्बलताओं को पाते हैं वहीं स्वाभिमान और क्षात्र धर्म से ओत-प्रोत नारी के भी दर्शन हमें होते हैं। वह एक स्थान पर विचार

करने लगती है कि लोग नारियों की न जाने क्यों नीच बुद्धि समझते हैं। वे यह नहीं जानते कि इस सृष्टि की रचना स्त्रियों से ही हुई है। जो नारी जीवन पर्यन्त उनका सुख दुःख में हाथ बँटाती है, उसे तुच्छ मानना नारी के प्रति अन्याय नहीं तो और क्या है?

संयोगिता का चरित्र एक निडर तथा दृढ़निश्चयी स्त्री के रूप में हमारे सामने आता है। अपने पिता के शत्रु पृथ्वीराज से प्रेम करना तथा उसे प्राप्त करने के लिए हर संभव प्रयास करना नारी के बोल्ड चरित्र को प्रदर्शित करता है। संयोगिता अपने निर्णय से एक क्षण के लिए भी हटती नहीं है। वह पृथ्वीराज को ही अपना पति मान चुकी है, उसके अलावा वह अन्य किसी पुरुष के बारे में नहीं सोच सकती।

जब जयचंद को संयोगिता के इस निर्णय का पता चलता है तो वह क्रोधित होता है तथा दूती को उसे समझाने के लिए भेजता है। दूती संयोगिता को समझाती है कि तुम्हारे पिता इतने यशस्वी और वीर हैं, कई देशों के वीर तुल्य राजा उनके सेवक हैं, उनमें से किसी का वरण क्यों नहीं कर लेती। दूती के समझाए जाने का भी संयोगिता पर रत्ती भर भी असर नहीं होता है। वह अपने निर्णय से हटने के लिए तैयार नहीं होती। संयोगिता का इस प्रकार अपने वचन पर डटे रहना उसमें क्षात्र धर्म को दर्शाता है। वह एक बार जो वचन दे चुकी है उससे हट नहीं सकती, चाहे उसके लिए उसे अपने पिता के विरुद्ध ही क्यों न जाना पड़े। उस समय के समाज में जहाँ स्त्रियों पर इतने प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए जाते थे, संयोगिता का पृथ्वीराज से प्रेम करना तथा अपने वचन पर प्रतिबद्ध रहना उसके साहसिक व्यक्तित्व को दर्शाता हो।

आदिकालीन समाज में सती प्रथा जैसी कुप्रथाएँ भी विद्यमान थीं। परन्तु पृथ्वीराज में वर्णित चन्द्रिका एक विधवा है तथा उसके सती होने का कहीं कोई प्रमाण नहीं मिलता। वह पति की मृत्यु के पश्चात् अपने भाई के घर आ जाती है तथा स्त्रियों को शिक्षा प्रदान कर अपना जीवन यापन स्वयं करती है। उसका अपने पति के साथ सती न होना, उसके शिक्षित होने के कारण हो सकता है। वह एक शिक्षित नारी थी, हो सकता है उसने सती होने से मना कर दिया हो। इसके साथ ही वह अपने जीवन के लिए किसी पर निर्भर नहीं रहती, स्त्रियों को शिक्षित करके वह स्वयं का जीविकोपार्जन करती है।

पृथ्वीराज रासो में ऐसे स्त्री चरित्र भरे पड़े हैं। इसी प्रकार इसमें एक चरित्र इंच्छिनी का भी है। किसी भी स्त्री के लिए अपने पति के प्रेम को किसी अन्य स्त्री के साथ बाँटने से ज्यादा कष्टकारी और कुछ नहीं होगा। जब इंच्छिनी को पता चलता है कि पृथ्वीराज संयोगिता के साथ विवाह कर उसे महल ला रहे हैं, यह सुनकर उसे बहुत दुख होता है। वह घर त्यागने की बात करती है। ऐसे समाज में जहाँ पति को ही सब कुछ माना जाता हो स्त्री को उसके अधीन समझा जाता हो, इंच्छिनी का ऐसा निर्णय लेना उसके निडरता का प्रतीक है। उस

समय स्त्री को घर के बाहर निकलने की मनाही थी, फिर भी इंच्छिनी उस समय ऐसा निर्णय लेती है। यह उसके व्यक्तित्व के प्रति सजगता ही है। उस समय समाज में बहुविवाह प्रचलित था। एक राजा कई विवाह कर सकता था। ऐसे में उसका ऐसा कहना निश्चय ही उसके साहसी व्यक्तित्व का परिचायक है।

सामंती समाज में जहाँ स्त्री को मात्र भोग की वस्तु समझा जाता हो, ऐसे में शशिव्रता द्वारा यह कहना कि वह सिर्फ पृथ्वीराज से विवाह करेगी अन्य पुरुष उसके लिए भाई समान हैं और यदि एक माह में शिव ने उसके संकल्प को पूर्ण नहीं किया तो वह अपने प्राण त्याग देगी, निश्चय ही उसके साहसिक व्यक्तित्व को दर्शाता है। शशिव्रता में साहस, दृढ़ संकल्प तथा अनेक ऐसे गुण विद्यमान हैं जो उसके चरित्र को निखारते हैं।

पद्मावती समय भी स्त्री-विमर्श की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण सर्ग है। पद्मावती एक क्षत्रिय की कन्या है। पृथ्वीराज के प्रति उसका प्रेम एकनिष्ठ है। वह संकट के समय में बुद्धि तथा साहस दोनों से काम लेती है। संकट में पड़ने पर वह रोती-बिलखती नहीं है बल्कि उस समस्या का समाधान निकालती है। जब उसको लगता है कि उसका विवाह किसी अन्य से करा दिया जाएगा तो वह एक शुक द्वारा पृथ्वीराज को संदेश भेजती है तथा अपना अपरहण करने के लिए कहती है। अपने परिवार के विरुद्ध जाकर अपनी इच्छानुसार निर्णय लेना पद्मावती की पृथ्वीराज के प्रति सच्चे प्रेम तथा उसके साहस को दर्शाता है।

आदिकालीन समाज सामंती मान्यताओं तथा कुप्रथाओं का समाज था। उस समाज में स्त्रियों की स्थिति दयनीय थी। उन्हें घर की शोभा बढ़ाने वाली वस्तु के रूप में देखा जाता था। उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। पिता तथा पति की आज्ञा मानना ही उनका कर्तव्य था। ऐसे में संयोगिता, पद्मावती, शशिव्रता जैसी स्त्रियों का प्रेम करना तथा अपने संकल्प को पूरा करने के लिए हर संकट का सामना करके उसे प्राप्त करना, निश्चय ही इन स्त्रियों को उस समय की अन्य स्त्रियों से अलग करता है।

आदिकालीन रचना बीसलदेव रासो का नाम नायक के नाम पर रखा गया है, परन्तु यह मुख्यतः नायिका प्रधान रचना है। इसमें बीसलदेव तथा राजमती की कहानी वर्णित है। राजमती जैसी मुखर स्त्री हमें अन्य रासो काव्यों में नहीं मिलती। उसमें आधुनिक चेतना से लैस स्त्री के गुण दिखाई देते हैं। वह किसी असत्य वचन को सहन नहीं कर सकती। जब वह विवाह करके राजमहल आती है तो बीसलदेव अहं में अपनी प्रशंसा करता है कि वह सबसे धनी है। यह बात राजमती से सहन नहीं होती और वह राजा से कहती है कि हे राजा! अपने पर ज्यादा गर्व मत करो, उड़ीसा में एक राजा है जो तुमसे भी अधिक धनी है। तुम्हारे यहाँ नमक निकलता है, उसके वहाँ तो हीरे की खानें हैं। इससे पता चलता है कि राजमती को अपने आस-पास की चीजों

का भी ज्ञान था। राजमती की यह बात बीसलदेव को बुरी लग जाती है और वह उसे छोड़कर उड़ीसा चला जाता है।

सामंती अहं भाव दोनों में विद्यमान है। राजमती अपने पति को रोकने के लिए हर संभव कोशिश करती है। वह उसे कई प्रकार के प्रलोभन देकर रोकने की कोशिश करती है परन्तु फिर भी बीसलदेव नहीं रुकता। यहीं से उसके विरह की दशा शुरू होती है। वह बीसलदेव को रोकने के लिए हर संभव प्रयास करती है, परन्तु इसमें ऐसा कहीं नहीं दिखता है कि उसे अपने कहे पर कोई पश्चाताप है। वह सत्य वचन कहती है और यदि कोई अपने अहं में उस सत्य को स्वीकार नहीं करता तो वह मूर्ख है। राजमती यहाँ कहीं भी स्वयं को कोसते या अपनी बात पर पश्चाताप करते दिखाई नहीं देती। वह आधुनिक स्त्री के समीप दिखाई देती है, जिसमें सत्य कहने की हिम्मत है तथा वह राजा से भी नहीं डरती। उस समय स्त्रियों को अपने पति के विरुद्ध जाने पर न जाने क्या दंड दिया जाता होगा, उस समय में राजमती का इस प्रकार निडर होकर तथा साहस के साथ अपनी बात कहना उसके स्वयं के अस्तित्व के प्रति सजगता को प्रदर्शित करता है। उसे झूठ बर्दाश्त नहीं होता।

राजमती आधुनिक स्त्री-विमर्श की कसौटी पर खरी उतरती है। उसमें वो गुण विद्यमान हैं, जो आधुनिक स्त्रियों में दिखाई देते हैं। आदिकाल में उसके जैसी जबान की इतनी खरी दूसरी नायिका नहीं दिखती। जिसके सत्य वचनों को सुनकर उसका पति उसे छोड़कर चला जाए। कवि ने षड्ऋतुओं के माध्यम से उसकी विरह वेदना को व्यक्त किया है। पति का विरह उसे हर माह सताता है। विरह में उसका शरीर क्षीण हो जाता है। माघ मास में भी उसकी वेदना इतनी तीव्र होती है कि उसके साथ-साथ सारी दुनिया दग्ध दिखाई पड़ती है।

माघ की ही भाँति उसे सभी महीने पीड़ा पहुँचाते हैं। उसकी विरह-वेदना इस सीमा तक पहुँच जाती है कि वह विरहाग्नि में छटपटाने लगती है। विरह दशा में वह इतनी व्याकुल हो जाती है कि वह ईश्वर से प्रार्थना करती है कि हे प्रभु! मुझे स्त्री जन्म क्यों दिया। वह कहती है कि मुझे प्रवासी की पत्नी होने को छोड़कर किसी भी अन्य रूप में सृजित करना। उस समय समाज में कृषि का कार्य होता था। निम्न कुल की स्त्रियाँ अपने पति के साथ खेतों में काम करने जाया करती थीं। उनको अपने पतियों के साथ खुश तथा सुखी देखकर रानियाँ भी महलों को छोड़कर खेत में कार्य करने को अच्छा समझती थीं। उनका मानना था कि कम से कम इसी बहाने पति का साथ तो मिलता। राजमती भी ईश्वर से प्रार्थना करती है कि तुमने मुझे जाटनी क्यों नहीं बनाया। मैं भी खेतों में अपने पति के साथ काम करने जाती। इसी बहाने हम दोनों साथ रहते, मेरा पति विदेश तो नहीं जाता।

कवि ने राजमती के संताप, सौंदर्य, विरह, नीति-निपुण एवं प्रोषित पतिका नायिका का जो रूप अपने काव्य में प्रस्तुत किया है, वही परवर्ती युग के कवियों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुआ। राजमती जैसी जबान की इतनी तेज तथा खरी नायिका हमें अन्य काव्यों में देखने को नहीं मिलती। परवर्ती काव्यों में भी इस प्रकार का चरित्र दिखाई नहीं देता। आधुनिक युग में आकर स्त्री-विमर्श में फिर हमें इस प्रकार के कई चरित्र देखने को मिलते हैं।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में नारी का वह गौरवपूर्ण स्थान नहीं रहा, जो उसे वैदिक काल में सहज ही प्राप्त हुआ था। सिद्धों ने उसे अपनी वासना की मंजूषा बना डाला तो नाथ तथा जैन सम्प्रदायों ने उसे मोक्ष के मार्ग में बाधा मानकर उसे तिरस्कृत किया। नारी के प्रति यही भाव अन्य धार्मिक सम्प्रदायों में भी था। समाज भी इन धार्मिक मान्यताओं की तरफ आकर्षित हुआ। उस समय आए इस्लाम की भोग परक प्रवृत्ति ने समाज में स्त्रियों की स्थिति को और अधिक दयनीय बना दिया। बहुत सारे हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। स्त्रियों में पर्दा प्रथा प्रचलित हो गई और बाल-विवाह की प्रथा भी इसी की देन थी।

इस विचारधारा से तत्कालीन समाज कैसे अप्रभावित रह सकता था। रासो काव्यों में नारी केवल भोग्या रह गई। उन दिनों आक्रामक विदेशियों से क्षत्रिय राजाओं के युद्धों में स्त्रियों की प्राप्ति ही एकमात्र उत्तेजना रह गई थी। नारी केवल रनिवासों की शोभा मात्र बनकर रह गई। उसका अपना अस्तित्व समाप्त हो गया। उस पर तरह-तरह की कुप्रथाएँ थोप दी गई।

इन सारी कुप्रथाओं को तोड़ती हुई संदेश रासक की नायिका घर से बाहर निकलती है तथा अपने प्रवासी पति के पास संदेश देने के लिए एक पथिक से आग्रह करती है। उसका घर से निकलकर इस प्रकार से घूमना तथा किसी अन्य पुरुष से अपने पति के लिए संदेश कहना एक प्रकार से उन सामाजिक कुप्रथाओं पर प्रहार था, जिसमें स्त्रियों को घर की चारदीवारी में जकड़ दिया गया था।

वह नायिका विरह में व्याकुल है, उसे अपने पति के पास संदेश भेजने के अलावा कुछ नहीं सूझता। वह घर में बैठी, उसके आने की प्रतिक्षा में आँसू नहीं बहाती बल्कि उस तक अपनी बात तथा विरहावस्था की दशा का हाल बताने के लिए किसी संदेश वाहक को ढूँढती है। विरहावस्था में अपने पति से दूर रहकर प्रकृति के सारे उपमान उसके लिए दुस्सह हो गए हैं। इस समय के कवियों ने विरहावस्था में ही नारी की मनोदशा का सही चित्रण किया है। नायिका विरह में इतनी व्याकुल है कि उसे अपनी कोई सुध नहीं है। उसके अंग से एक-एक कर सारे आभूषण गिरते जा रहे हैं परन्तु उसे उसकी खबर नहीं उसे सिर्फ अपनी विरह दशा का आभास रहता है।

संदेश रासक में विरहिणी की मनोदशा का पाठकों के हृदय पर प्रभाव डालने के लिए कवि ने प्रकृति का बहुत ही सही ढ़ंग से चित्रण किया है। सभी ऋतुएँ नायिका की विरहावस्था को और प्रज्वलित करने का कार्य

करते हैं। उससे अब यह विरह सहा नहीं जाता इसलिए वह शीघ्रातिशीघ्र अपने पति से मिलन चाहती है। अपने पति के लिए संदेश कहते हुए वह कई स्थानों पर उसे निर्दयी, निष्ठुर, कापालिक, निशाचर आदि नामों से सम्बोधित करती है। जिसके कारण उसकी यह दशा हुई है, उसे इस प्रकार के सम्बोधन देने में नायिका कहीं भी झिझकती नहीं है।

वह संयोग के दिनों को याद करती है तथा जो पति उसे ऐसी दशा में छोड़कर परदेस में है, उससे अधिक मूर्ख और कौन हो सकता है। नायिका अपनी विरह दशा को व्यक्त करने के लिए लोकलाज तथा सामाजिक बन्धनों को तोड़ती है। विरहावस्था में ही स्त्रियों द्वारा अपने पति को उलाहने भरे शब्द कहना, उस समय के कवियों की परिपाटी बन गई थी, जो आधुनिक काल तक चली आ रही है। संदेश रासक की नायिका भी अपनी दशा से खिझ गई है, इसलिए वह अपनी इस दशा के लिए जिम्मेदार अपने पति को उलाहने देती है तथा उसे कापालिक, निशाचर, निर्दयी, मूर्ख सब कह डालती है।

विद्यापति प्रमुख रूप से प्रेम और सौंदर्य के कवि हैं। वे प्रेम को संसार की सार वस्तु मानते हुए उसे धर्म तथा मर्यादाओं से उच्च स्थान प्रदान करते हैं। उन्होंने प्रेम और विरह की विभिन्न अनुभूतियों को बड़े ही स्वाभाविक रूप में चित्रित किया है। उनकी राधा तथा नायिकाएँ प्रत्येक परिस्थिति में अपने प्रेम पर दृढ़ रहकर अपने साहस का परिचय देती हैं। विद्यापति की राधा काम भावना से ओत-प्रोत नायिका है। पदावली की राधा ईश्वर नहीं बल्कि मनुष्य के रूप में चित्रित है। उसमें स्त्रियोचित्त सभी गुण हैं विद्यमान हैं। विद्यापति ने राधा-कृष्ण के प्रेम का लौकिक रूप प्रस्तुत किया है। उनके राधा-कृष्ण सामान्य मनुष्य हैं, जिनमें काम भावना का आधिक्य है।

विद्यापति की राधा देवी के रूप में नहीं बल्कि अनन्त इच्छाओं से भरी एक सामान्य स्त्री है, जो अपने प्रिय से मिलन के लिए व्याकुल है। नायिका कहती है कि जब समय पर प्रिय से मुलाकात ना हो तो इस यौवन का क्या लाभ? राधा की इस प्रकार की उत्कंठा भक्तों को अनुचित लग सकती है, परन्तु प्रेम में आकुल नारी के लिए मर्यादाओं और नैतिकता से ज्यादा आवश्यक प्रेमी से मिलना है और विद्यापति ने नारी के इसी रूप का चित्रण किया है। राधा एक मानिनी नायिका है। कृष्ण कई नारियों में अनुरक्त रसिक हैं, जब कृष्ण अन्य स्त्री के साथ केलि विलास कर, राधा के पास आते हैं तब राधा उन्हें भला-बुरा कहती हैं तथा कृष्ण को अपने वचन पर प्रतिबद्ध न होने वाला बोलती हैं।

कृष्ण के इस प्रकार के व्यवहार से वह अत्यन्त दुःखी होती हैं तथा ईश्वर से प्रार्थना करती हैं कि, हे ईश्वर! पुत्री जन्म न हो, यदि पुत्री जन्म हो तो वह युवती न हो। हे परमात्मा! मेरी विनती को स्वीकारें तथा मुझे

स्थायित्व प्रदान करें। मेरा स्वामी रसिक हो तथा वह किसी अन्य स्त्री पर अनुरक्त न हो। इस प्रकार के कई उदाहरण मिलते हैं, जिसमें राधा का मानिनी रूप देखने को मिलता है तथा दूसरी स्त्रियों के पास जाने के लिए वह कृष्ण को भला-बुरा कहती हैं।

अतः यह कहा जा सकता है कि आदिकाल के धूमिल पट पर नारी उज्जवल आभा सी प्रतीत होती है, ऐसी आभा के रूप में जो अतीत के रंगमंच पर अभिनय करती हुई नायिका की भाँति समय तथा समाज के अनुरूप अपने स्वरूप तथा मुद्राओं में परिवर्तन करती हुई नारी के तत्कालीन स्वरूप का चित्र प्रस्तुत करती है। कभी वह सिद्धों की साधना में इन्द्रिय-निग्रह से बँधी हुई, तो कभी नाथों आदि सन्तों के इन्द्रिय-निग्रह से ठुकराई हुई, तो कभी रासो की मुग्धा, मध्य और प्रौढ़ा नायिका का रूप प्रस्तुत करती हुई दिखाई देती है।

आदिकालीन रचनाओं के अध्ययन से हमें पता चलता है कि उस काल की इतनी सारी कुप्रथाओं तथा बन्धनों के होने के बावजूद कुछ स्त्री पात्र ऐसी भी हैं जो समाज की उन दकियानुसी रीति-रिवाजों को तोड़ती हुई, आधुनिक स्त्री के समीप आ जाती हैं। पृथ्वीराज रासो की संयोगिता, इंच्छिनी, चंद्रिका हो या बीसलदेव रासो की राजमती, सब ने समाज के बन्धनों को किसी न किसी रूप में तोड़ने का प्रयत्न किया है। पृथ्वीराज रासो की स्त्रियाँ प्रेम में समाज की कुप्रथाओं को तोड़ती हैं, तो बीसलदेव की राजमती अहं में चूर राजा के घमंड को तोड़ती है।

इसी प्रकार संदेश रासक की नायिका विरह में इतनी व्याकुल हो जाती है कि समाज का कोई बन्धन उसे घर की चारदीवारी में कैद नहीं कर पाता। वह विरहावस्था में अपने पति को कोसती है तथा उसे निशाचर, कापालिक, मूर्ख आदि नामों से सम्बोधित करती हुई, उसके प्रति अपने क्रोध को व्यक्त करती है। उस समय के समाज की सारी कुप्रथाओं का विवरण हमें थेरी गाथाओं के माध्यम से मिल जाता है। भिक्षुणियाँ समाज के इन कुप्रथाओं में बँधने की अपेक्षा भिक्षुणी बनना ज्यादा श्रेयस्कर समझती हैं। विद्यापति की राधा भी कृष्ण के कामुक रूप पर उन्हें भला-बुरा कहने से नहीं चूकती। वह काम में व्याकुल होती है परन्तु कृष्ण का किसी अन्य स्त्री के साथ केलि विलास उन्हें अच्छा नहीं लगता जिससे वह कृष्ण को वचन भंग करने वाला बोलती हैं।

अतः निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि इन स्त्रियों में आधुनिक चेतना के कुछ रूप दृष्टिगत होते हैं। समाज में कोई भी परिवर्तन अचानक से नहीं आता, उसके लिए निरंतर संघर्ष करना पड़ता है। इन स्त्रियों के माध्यम से हम स्त्री-विमर्श की शुरूआत देख सकते हैं। उन्हें केवल भोग्या या युद्ध के कारणों के रूप में देखना, उनके प्रति एकांगी दृष्टिकोण होगा। अतः उनका समग्र रूप में विश्लेषण किया जाना चाहिए।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची (Bibliography)

आधार-ग्रन्थ (Primary Source)

सम्पादक – मोहनसिंह, कविराव — पृथ्वीराज रासो — साहित्य संस्थान, उदयपुर (राजस्थान) 2012

सम्पादक –गुप्त, डॉ. माता प्रसाद तथा नाहटा, श्री अगरचंद — बीसलदेव रासो — हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय, प्रयाग (द्वितीय संस्करण)

सम्पादक –द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद तथा त्रिपाठी, डॉ. विश्वनाथ — संदेश रासक — राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (1975)

सम्पादक – झा, शशिनाथ और वर्मा, डॉ. बजरंग — विद्यापति पदावली, भाग-दो — बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

सांकृत्यायन, राहुल — हिन्दी काव्यधारा — किताब महल प्रकाशन, नई दिल्ली (1945)

सहायक ग्रन्थ-सूची : (Secondary Source)

अग्रवाल, रोहिणी — स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (2011)

अनामिका — स्त्रीत्व का मानचित्र
सारांश प्रकाशन, दिल्ली (1999)

अवस्थी, डॉ. मोहन — हिन्दी साहित्य का विवेचनपरक इतिहास
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली (2008)

अनामिका — स्त्री-विमर्श की उत्तर-गाथा
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण

आर्य, साधना, मेनन, निवेदिता (सं.) और लोकानिता, जिनी — नारीवादी राजनीति : संघर्ष और मुद्दे
हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय (2010)

इस्सर, देवेन्द्र — स्त्री मुक्ति के प्रश्न
संवाद प्रकाशन, मेरठ (2009)

उपाध्याय, विश्वम्भरनाथ — भारतीय साहित्य के निर्माता सरहपा
साहित्य अकादमी, नई दिल्ली (2004)

एँगेल्स — परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (2010)

ओशो — नारी और क्रान्ति
हिन्दी पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली

कमलेश — नारी जीवन : वैदिक काल से लेकर आज तक
यूनिक ट्रेडर्स, जयपुर (2003)

कस्तवार, रेखा — स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (2006)

कार, ई. एच., अशोक चक्रधर (अनु.) — इतिहास क्या
मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड
नई दिल्ली (2010)

कुलश्रेष्ठ, डॉ. विजय — रासो काव्यधारा
किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद (1984)

कुमार, जैनेन्द्र — नारी
पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली (1980)

कुमार दीपक तथा चौबे, देवेन्द्र (सं.) — हाशिए का वृत्तान्त
आधार प्रकाशन पंचकूला (2011)

के. दामोदरन — भारतीय चिन्तन धारा
पीपुल्स पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली

खेतान, प्रभा (अनु.) — स्त्री उपेक्षिता
बोउवार, सीमोन द — हिन्दी पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली (2008)

खेतान, प्रभा — बाजार के बीच : बाजार के खिलाफ भूमण्डलीकरण और स्त्री के प्रश्न
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली (2004)

गीताश्री — स्त्री आकांक्षा के मानचित्र
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली (2008)

गीताश्री — औरत की बोली
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली (2011)

गुप्त, डॉ. गणपति चन्द्र — आदिकाल की प्रामाणिक रचनाएँ
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण

गुप्त, डॉ. माताप्रसाद — रासो साहित्य विमर्श
साहित्य भवन प्रा. लिमिटेड, इलाहाबाद (1962)

गुप्ता, रमणिका — स्त्री विमर्श : कलम और कुदाल के बहाने
शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली (2008)

गुप्ता, रमणिका — स्त्री मुक्ति संघर्ष और इतिहास
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली (2012)

गुप्त, डॉ. माताप्रसाद (सं.) पृथ्वीराज रासउ : चन्दबरदाई
साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी (1963)

चन्द्र, डॉ. सतीश मध्यकालीन भारत
ओरिएन्ट ब्लैक स्वान, दिल्ली (2015)

चतुर्वेदी, जगदीश्वर तथा सिंह, सुधा (सं.) स्त्री काव्यधारा
अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स
नई दिल्ली (2006)

चतुर्वेदी, जगदीश्वर स्त्रीवादी साहित्य विमर्श
अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली (2011)

जैन, श्री देवेन्द्र कुमार (सं.) पउमचरिउ
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण

जैन, कामता प्रसाद हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली

झा, डॉ. इन्द्रकान्त विद्यापतिकालीन मिथिला
मैथिली अकादमी, पटना (1986)

झा, बासुकीनाथ विद्यापति काव्यालोचन
मैथिली अकादमी, पटना

टाकभौरे, सुशीला परिवर्तन जरुरी है

शरद प्रकाशन, नागपुर (1997)

डॉ. अमरनाथ — नारी का मुक्ति संघर्ष
रेमाधव पब्लिकेशन्स प्रा. लिमिटेड
गाजियाबाद (2007)

डॉ. नगेन्द्र — रीतिकाव्य की भूमिका
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण

तिवारी, डॉ. वल्लभदास — हिन्दी काव्य में नारी
जवाहर पुस्तकालय, मथुरा (उत्तर प्रदेश)

द्विवेदी, डॉ. हजारीप्रसाद — सूर साहित्य
हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर लिमिटेड, बम्बई

द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद — हिन्दी साहित्य का आदिकाल
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली (2012)

द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद — नाथ सम्प्रदाय
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (1996)

द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद — हिन्दी साहित्य की भूमिका
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (2012)

द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद — नाथ, सिद्धों की रचनाएँ
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली (2014)

(सं.) द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद तथा — संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो

त्रिपाठी, विश्वनाथ — साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद

धर्माधिकारी, चंद्रशेखर — मंजिल दूरच राहिली
मंजुल प्रकाशन, भोपाल (2000)

धर्मपाल — नारी : एक विवेचन
भावना प्रकाशन, दिल्ली

नागार्जुन — विद्यापति के गीत
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली (2011)

पंत, डॉ. अंबादत्त — अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण

पाण्डेय, डॉ. राजबली — हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, प्रथम भाग
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

पाण्डे, मृणाल — परिधि पर स्त्री
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली (1996)

पाण्डे, मृणाल — जहाँ औरतें गढ़ी जाती हैं
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली (2006)

पाण्डेय, शंभूनाथ — आदिकालीन हिन्दी साहित्य
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

पुष्पा, मैत्रेयी — खुली खिड़कियाँ

सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली (2006)

प्रेमचंद — कर्मभूमि
लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली (2005)

बोरा, डॉ. राजकमल — पृथ्वीराज रासो इतिहास और काव्य
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (1974)

सं. बड़थ्वाल, डॉ. पीताम्बरदत्त — गोरखबानी
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (1960)

सं. बेनीपुरी, रामबृक्ष तथा लाल, दिनेश्वर 'आनंद' — विद्यापति की पदावली
पुस्तक भण्डार पब्लिशिंग हाउस, पटना

भारती, इन्दु — आधी आबादी
अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली (2005)

महेश्वरी, हेमलता — स्त्री लेखन और समय के सरोकार
नेहा पब्लिकेशन, दिल्ली (2006)

माहेश्वरी, सरला — नारी प्रश्न
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली (1998)

मिश्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद — हिन्दी साहित्य का अतीत, प्रथम भाग
वाणी प्रकाशन, दिल्ली (2006)

मिल, जॉन स्टुअर्ट — स्त्री और पराधीनता

(अनु.) धीर, युगांक — संवाद प्रकाशन, मेरठ (2008)

मीतल, द्वारकाप्रसाद — हिन्दी साहित्य में राधा
जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, प्रथम संस्करण

मुद्गल, चित्रा — बयार उनकी मुट्ठी में
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली (2004)

मुद्गल, चित्रा — तहखानों में बन्द अक्स
कल्याणी शिक्षा परिषद्, नई दिल्ली (2012)

यादव, डॉ. द्विजराम — पृथ्वीराज रासो : साहित्यिक मूल्यांकन
साहित्यालोक, कानपुर (1980)

यादव, राजेन्द्र — आदमी की निगाह में औरत
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (2007)

(सं.) यादव, राजेन्द्र तथा वर्मा, अर्चना — अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (2011)

(सं.) यादव, राजेन्द्र तथा वर्मा, अर्चना — औरत : उत्तर कथा
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (2013)

यादव, राजेन्द्र, खेतान, प्रभा तथा दुबे, अभय — पितृसत्ता के नए रूप / स्त्री और भूमण्डलीकरण
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (2003)

रमाबाई, पंडिता
(अनु.) जोशी, शंभु
हिन्दू स्त्री का जीवन
संवाद प्रकाशन, मेरठ (2006)

राजे, डॉ. सुमन
साहित्येतिहास (आदिकाल)
ग्रन्थम प्रकाशन, कानपुर (1976)

राजे, सुमन
इतिहास में स्त्री
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2012)

(सं.) राजकिशोर
स्त्री के लिए जगह
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली (2006)

राजे, सुमन
हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (2003)

R. K. Chaudhary
Mithila in the Age of Vidyapati
Chawkhamba Orientalia, Varanasi

वर्मा, महादेवी
श्रृंखला की कड़ियाँ
लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली

वर्मा, डॉ. रामकुमार
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
रामनारायण लाल प्रकाशक, इलाहाबाद (1954)

व्होरा, आशारानी
औरत : कल आज और कल
कल्याणी शिक्षा परिषद् , नई दिल्ली (2005)

व्होरा, आशारानी — भारतीय नारी : दशा और दिशा
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

व्होरा, आशारानी — नारी शोषण : आइने और आयाम
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

शर्मा, डॉ. राजमणि — अपभ्रंश भाषा और साहित्य
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली (2009)

शर्मा, डॉ. रामविलास — भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली (2002)

शर्मा, नासिरा — राष्ट्र और मुसलमान
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली (2003)

शर्मा, नासिरा — औरत के लिए औरत
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली (2003)

शर्मा, कुमुद — आधी दुनिया का सच
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली (2011)

शर्मा, ओमप्रकाश — समकालीन महिला लेखन
पूजा प्रकाशन, नई दिल्ली

शर्मा, कैलाश नाथ — भारतीय समाज और संस्कृति

किशोर पब्लिशिंग हाउस, कानपुर (1975)

शुक्ल, आचार्य रामचंद्र — हिन्दी साहित्य का इतिहास
प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली (2011)

(सं.) शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र — जायसी ग्रन्थावली
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण

स्वामी, नरोत्तमदास — रासो साहित्य और पृथ्वीराज रासो
भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान
बीकानेर, राजस्थान (1885)

साहा, कुमार रणजीत — सहज सिद्ध साधना एवं सर्जना
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली (1980)

सिंह, डॉ. नामवर — पृथ्वीराज रासो भाषा और साहित्य
राधाकृष्ण प्रा. लिमिटेड, नई दिल्ली (1997)

सिंह, डॉ. नामवर — हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (2010)

सिंह, डॉ. शिवप्रसाद — विद्यापति
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (2010)

सिंह, डॉ. कमल — गोरखनाथ और उनका साहित्य
कुसुम प्रकाशन, मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश)

द्वितीय संस्करण

सिंह, डॉ. बच्चन — हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

त्रिपाठी, डॉ. राममूर्ति — आदिकालीन हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी